

# चिन्तन-सृजन

## =मासिक

वर्ष 4 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2006

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

## विषय-क्रम

### वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

### एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

### विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

### आस्था भारती

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. भारतीयता का नवसर्जन यशदेव शल्य	7
2. आचार्य शुक्ल का आलोचनादर्श और भारतीयता कुमार विमल	14
3. ऋग्वेदिक वनस्पति और प्राणीजगत कृपाशंकर सिंह	22
4. बहुसंस्कृतिवाद का कपट शंकर शरण	47
5. 'हिन्दी-उर्दू' और राम विलास शर्मा कृष्णचन्द्र गोस्वामी	58
6. देह बन गई चन्दन : भारतीय तत्वज्ञान और भक्ति का सामाजिक प्रयोग मदन मोहन तरुण	77
7. पर्यावरण प्रदूषण, उसके दुष्प्रभाव एवं पर्यावरण चेतना प्रसार के प्रयास राजीव रंजन उपाध्याय	82
8. खासी जनजाति और उनकी आस्था दिलु सुवेदी	91
9. इस्लामी आतंकवाद : एक दृष्टि प्रणव कुमार	107
10. वर्तमान सभ्यता संघर्ष और रामकुमार वर्मा के महाकाव्यों का महा-आशय बलदेव वंशी	121
11. पाठकीय प्रतिक्रिया	128

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### हम भी मानव हैं!

**ब**ड़े चालाक लोग हैं! उन्हें मानव अधिकारों की बड़ी चिन्ता है, मानव की नहीं। मानव की तो उन्हें पहचान तक नहीं है। उनकी नजर में मानव वे नहीं हैं, जो आतंकवादियों की गोलियों के शिकार होते हैं, बम विस्फोटों में मारे जाते हैं। वे भी नहीं, जो अपने परिवारों से दूर, हजारों मील दूर, कहीं किसी गाँव में, किसी शहर के चौराहे पर, लोगों की जान बचाने के लिए चौकसी करते खड़े होते हैं। अचानक कहींसे एक गोली आती है, उन्हें लगती है, वे अपनी पत्नी को विधवा, बच्चों को दर दर की ठोकर खाने को अनाथ छोड़ इस दुनिया से विदा हो जाते हैं। लोग उन्हें भूल जाते हैं।

कभी कभी हजारों निरीह लोगों को गोलियों तथा बमों का शिकार बनाने वालों, में से कुछ लोग पकड़े जाते हैं; उनपर दशकों तक मुकदमा चलता है; अधिकांश 'निर्दोष' कहकर छोड़ दिए जाते हैं; कुछ दण्डित होते हैं। छोड़े जाने के लिए न्याय-पालिका की प्रशंसा की जाती है; दण्ड देने के लिए आलोचना। अभी अभी पिछले कुछ दिनों में ऐसा ही कुछ हुआ है। ऐसा पहले भी होता रहा है। समस्या जटिल है। इससे कई प्रश्न जुड़े हैं; कई स्तरों पर। आखिर हम इतने संवेदनहीन क्यों होते जा रहे हैं? शवों पर राजनीति करने से हमें परहेज क्यों नहीं? ऐसा करके हमें शर्म क्यों नहीं आती? हमारा शीर्ष नेतृत्व, चोटी के बौद्धिक वर्ग इस समस्या पर एक स्वर से क्यों नहीं बोलते? वे तथा हमारे समाचार माध्यम लोगों को, 'सिद्धिल सोसाइटी' को, कभी अपनी चुप्पी से, कभी अपनी जोर की आवाज से, तथा प्रायः ही अपनी अकर्मण्यता से गुमराह क्यों करते रहते हैं। वे हमें लगातार 'कनफ्युज' क्यों करते हैं? इस देश के हजारों लोगों की आत्माएँ, जो आततायियों की गोलियों के शिकार हुए हैं, लगातार पुकार रही हैं : "हम भी मानव हैं!" हम उस आवाज को अनसुना क्यों करते जा रहे हैं? इस देश में देश-द्रोह, समाज-द्रोह की आवाज लगातार प्रबल क्यों होती जा रही है? आखिर समस्याओं के समाधान के प्रति हम ईमानदार क्यों नहीं? ये प्रश्न, और अनेक अन्य प्रश्न, उत्तर की प्रतीक्षा में हैं। समस्याओं का समाधान आवश्यक है। समय नहीं है।

इस देश में लगातार धमाके होते रहते हैं बाजार में, किसी मन्दिर में, कभी किसी रेल के डब्बे में। यहाँ तक कि भारतीय संसद भी उनके आक्रमण का शिकार होने से नहीं बच पायी है। इसके बावजूद हमारा शीर्ष नेतृत्व आतंकवाद के प्रति सदा दुलमुल नीति अपनाता रहा है। वस्तुतः आतंकवादियों, अलगाववादियों तथा अतिवादियों को जितना बल हमारी नासमझ सरकारें, हमारे राजनीति-कर्मी, स्टालिनिस्ट एवं वैचारिक उलझाव से ग्रस्त बुद्धिजीवी एवं पत्रकार दे रहे हैं, उतना वे विदेशी ताकतें नहीं, जो इस देश को कमजोर बनाती हैं; इसे तोड़ना चाहती हैं। आतंकवाद के प्रति अमरीका की स्पष्ट नीति है। वहाँ कानून से खिलवाड़ नहीं होता। नेतृत्व उलझाव-ग्रस्त दृष्टि-विहीन नहीं है। ध्यातव्य है कि वहाँ 9/11 के बाद आतंकवाद की कोई वारदात नहीं हुई। यहाँ यह रोजमर्रा की बात हो गयी है।

अभी अभी संसद पर आक्रमण में संलिप्तता के लिए मुहम्मद अफजल को फाँसी की सजा सुनाई गयी है। हमें उसकी बीबी एवं बच्चों के प्रति हार्दिक सहानुभूति है; उनके दुख से हम दुखी हैं। लेकिन क्या हमारी सहानुभूति, हमारे दुख को कानून के रास्ते आड़े आना चाहिए? क्या हम एक अफजल को बचाकर हजारों अफजलों को दुस्साहसी बनाने तथा उसका दुष्परिणाम भुगतने के दोष से बच पायेंगे। आजादी के बाद इस देश में, विशेषतः बौद्धिकों में, एक निहायत नासमझ, स्वार्थी एवं लपफाज वर्ग उभरा है। उसे अपनी नाकसे आगे दिखायी नहीं देता। जब भी इस देश में कभी कुछ होता है तो वह समस्त विमर्श, सारी संवाद-प्रक्रियाको गलत मोड़ देता है। क्षुद्र मुद्दों को बड़ा बनाकर उछालने तथा वातावरण को भावनात्मक गरमाहट देने का उसका सतत प्रयास रहता है। वह फाँसी की 'बर्बरता' की चर्चा तो करता है, लेकिन उसमें इस बात की समझ नहीं होती है कि वह कार्य एवं कार्य के आधार में फर्क कर सके।

आतंकवादी की "बर्बरता" तथा सोलह व्यक्तियों की हत्या तथा देश के कानून की कोई भी जिक्र नहीं होती। फिर इस वर्ग का व्यवहार उसे ऐसे विषय पर मुँह खोलने का नैतिक अधिकार नहीं देता। जब कोई आतंकवादी घटना घटती है, सैकड़ों निरीह व्यक्तियों, बच्चों, महिलाओं की हत्या होती है तो इस वर्ग की आश्चर्यजनक चुप्पी अमर्ष तथा वितृष्णा पैदा करती है।

जब अक्षम सरकारें लोगों के जानमाल की रक्षा नहीं कर पाती तो लोग आतंकवादियों के कुकृत्यों की चर्चा खुलकर करना बंद कर देते हैं। वे घर के एकान्त तथा चौक-चौराहे की भीड़भाड़ में अलग अलग भाषा बोलना सीख लेते हैं। वाचाल बौद्धिक एवं संचार-माध्यम कर्मियों इसका प्रायः ही गलत अर्थ लगाकर प्रचारित करते हैं, और जनता को गुमराह करते हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि आतंकवादी संगठनों के भय से लोगों ने विलकुल बोलना बन्द का दिया हो। पूर्वोत्तर में पत्रकारों को धमकियाँ मिलीं; फिर भी, डी. एन. बेजबरा तथा गांधीवादी शकुन्तला चौधरी ने उल्फा के विषय में अपने विचार रखे। असम के एक विद्यार्थी नेता ने भय त्यागकर उल्फा तथा उसके ढाका स्थित नेता परेश बरूआ के गलत कार्यों की आलोचना की। नागालैण्ड के चाखेसांग नागाओं के विभिन्न मंचों से मुइव्हा के संगठन के विरुद्ध आवाज उठी। स्पष्टतः हमें निराश नहीं होना चाहिए।

दो बातें आवश्यक हैं : सरकारें, विशेषकर, केन्द्र सरकार आतंकवाद के प्रति अपनी सोच स्पष्ट करे; तद्विषयक अपनी नीति तय करे। ऐसा नहीं हो सकता कि संघर्ष-विराम भी हो तथा हत्याएँ एवं अवैध वसूली भी चलती रहे। बिना परिणाम के उच्चतम स्तर तक आतंकवादियों से बातचीत से उनका सम्मान बढ़ता है; जनता 'कनफ्युज' होती है। दूसरा कदम समाज/सिद्धिल सोसाइटी को उठाना चाहिए। विभिन्न मंचों द्वारा उसे आतंकवादियों/अलगाववादियों की असलियत की जानकारी लोगों को देनी चाहिए तथा सरकार के उठाए कदमों तथा बौद्धिकों द्वारा उनको दी गयी मदद की 'सिद्धिल आडिट' करनी चाहिए।

**ब्रज बिहारी कुमार**

## भारतीयता का नवसर्जन

**यशदेव शल्य\***

भारत की राजकीय स्वतन्त्रता के लगभग 58 वर्ष बाद भी आज हम इसकी मानसिक परतन्त्रता को लेकर चिन्तित हैं। मैंने 1985 में एक दार्शनिक पत्रिका-उन्मीलन-का प्रकाशन-सम्पादन आरम्भ किया था तब उसके मूल में मेरी यही चिन्ता थी। वह चिन्ता आज भी वैसी ही बनी हुई है। उसके कम होने का कोई कारण भी दिखाई नहीं देता। निश्चय ही आज यूरोप भी मानसिक रूप से विघटन की ओर ही अग्रसर है, किन्तु हमारे विचारकों के लिए उसका वह रूप भी अनुकरणीय है, जैसे किसी समय अंग्रेजी कवि लार्ड बायरन की एक टॉग में कुछ दोष होने से लँगड़ा कर चलना वहाँ के युवकों के लिए अनुकरणीय था।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा बहुत प्राचीन है, जिसका मूल वेद-कालीन दृष्टि और धारणाओं में माना जाता है। वह परम्परा इस अर्थ में आज भी जीवन्त और अटूट कही जा सकती है कि इसमें कोई क्रम-भंग नहीं है, यद्यपि वैदिक दृष्टि और आज की हमारी दृष्टि में उतना ही साम्य और भेद है जितना वैदिक भाषा और हमारी आज की भाषाओं में है। किसी समाज की सांस्कृतिक परम्परा की निरन्तरता उस समाज के अस्मिता-बोध के नैरन्तर्य और मूल्य-दृष्टि की सृजनात्मकता में कही जा सकती है। भारतीय संस्कृति इसी अर्थ में आज भी जीवित कही जा सकती है। 'यूनानोमिश्र रोमा, सब मिट गए जहाँ से, बाकी मगर है अब तक, नामो निशाँ हमारा' इसी अर्थ में ठीक है। यूनान, मिश्र और रोम आदि देशों के निवासियों की आनुवंशिकता तो हमारी तरह ही अटूट है किन्तु उनकी देहों में अन्य आत्माओं का प्रवेश हो गया है, उनकी अपनी आत्माएँ उन्हें छोड़कर चली गई हैं, जबकि हमारे साथ ऐसा नहीं हुआ है। किन्तु इधर वैसा होने की सम्भावना बनने लगी है।

द्रष्टव्य है कि उल्लिखित कविता मुहम्मद इकबाल की है, जिसका नाम ही उसे इस देश की सांस्कृतिक परम्परा से बाहर रखता है। किन्तु तब भी वह यदि अपने को इस परम्परा में देखता है, जैसाकि इस कविता का 'हमारा' सर्वनाम बताता

\* डॉ. यशदेव शल्य, प्रख्यात दार्शनिक एवं 'उन्मीलन' पत्रिका के सम्पादक हैं। पता : पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर 302015।

है कि वह देखता है, तब निश्चय ही वह इस परम्परा का हो जाता है। भारत में बहुत सी जातियाँ बाहर से आईं और यहाँ की ही हो गईं। इसके विपरीत काश्मीर के बहुत बड़े जन-समुदाय को उसका अतीत विस्मृत हो गया और उसने दूसरी परम्परा की स्मृतियों को अपनी मान लिया। ऐसा शेष देश के बड़े समुदायों के साथ भी हुआ है। जिसे हम पश्चिमीकरण कहते हैं वह भी यही हमारी देह में अन्य आत्मा के प्रवेश की प्रक्रिया है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इसमें हानि ही क्या है? यूनान, मिश्र, रोम, बेबीलोन, ईरान की पहली परम्पराएँ समाप्त हो गईं और वे नई संस्कृतियाँ बन गईं, इसमें उनकी क्या हानि हुई? ये अब अपनी नई संस्कृतियों की रक्षा के लिए मरने-मारने को तैयार हैं। स्वयं हमारे ही यहाँ अधिकाँश लोग अपनी भाषाएँ भूलकर अंग्रेजी अपना रहे हैं और जो ऐसा नहीं कर पा रहे हैं वे अपने को पिछड़ा हुआ समझते हैं। इसमें बुराई क्या है? इसका उत्तर है कि अपने को खोना, आत्मा का नाश, यह निरपेक्ष रूप से और सबसे बड़ी हानि होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें अन्य से सीखना नहीं चाहिए, अन्य के आदर्श से आत्म-परिष्कार नहीं करना चाहिए! यह कहने पर तो 'बुद्ध शरणं गच्छामि', 'महाजनो येन गताः सः पंथाः' भी अनुचित हो जाएगा। किन्तु बुद्ध की शरण जाने के वही योग्य होता है जो सदसद् का विवेक कर सकता है, और यह विवेक करने के लिए उसमें संकल्प-बल होना अपेक्षित होता है और संकल्प-बल होने के लिए आत्म-बल होना आवश्यक होता है। बुद्ध की शरण जाने और बुद्ध का अनुकरण करने में आधारभूत अन्तर है। अनुकरण करने के लिए आत्मा और संकल्प की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि इनके नहीं होने की आवश्यकता होती है। यूरोप से साम्मुख्य होने पर भारत में जो प्रथम प्रतिक्रिया हुई थी वह एक आत्मवान् जाति की प्रतिक्रिया ही थी। भारत ने एक नवीन, उदीयमान्, ऊर्जस्वी संस्कृति का सामना होने पर अपने आपको देखा था, आत्म-विवेचन किया था, अपने में जड़ता और तज्जन्य दोषों को पहचाना और अपने को प्रबोधित किया था। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, ज्योतिबा फुले, श्री अरविन्द, कुमारस्वामी, विवेकानन्द, तिलक और सबसे बढ़कर महात्मा गाँधी इस साम्मुख्य-जन्य आत्म-प्राप्ति के परिणाम थे। भारत की आत्मिक ऊर्जा का वह अद्भुत स्फार था। यही स्फार मुस्लिम आक्रमण के बाद भक्ति-काव्य-धारा के रूप में भी प्रकट हुआ था, किन्तु वह एक सांस्कृतिक चुनौती के साम्मुख्य का रूप नहीं ले सका जो इसने इस नई चुनौती के सम्मुख लिया।

किन्तु इस साम्मुख्य का यह केवल एक पक्ष ही था। इसका एक दूसरा पक्ष भी था। भारतीय मानस यूरोप के विज्ञान, यन्त्र और बौद्धिक ऊर्जा से चमत्कृत भी हुआ और यथासम्भव उसमें अपने को अभिसंस्कृत करने को भी तत्पर हुआ। राजा राममोहन राय इसके एक उदाहरण हैं तथा श्री अरविन्द और जवाहरलाल नेहरू आदि

को जिस प्रकार बचपन में उनके माता-पिता ने भारतीय परिवेश की छूट से अलग रखा, वह इसका दूसरा उदाहरण है। नए कालिजों में पढ़ने-पढ़ाने वाले युवक तथा-कथित वैज्ञानिक दृष्टि को सन्देहातीत प्रामाणिक दृष्टि मानकर भारतीय दृष्टि को अन्धविश्वास मानने लगे थे। इसका प्रभाव स्वयं आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज में भी स्पष्ट देखा जा सकता है। नया शिक्षित और अर्धशिक्षित वर्ग इसी दृष्टि में अभिसंस्कृत हो रहा था। यह वर्ग अपनी अस्मिता भारत में देखते हुए भी बुद्धि की श्रेष्ठता पश्चिम में ही देखता था। इस अस्मिता-बोध और आत्महीनता का समन्वय वह प्राचीन भारत में नवीन यूरोप की तुल्यता देखकर करने लगा। आर्यसमाज ने वेदों में आधुनिक यन्त्र-विद्या को देखा और शास्त्रों के अध्येताओं ने भारतीय शास्त्रों में पश्चिम की तुल्यता देखनी आरम्भ की। किन्तु उनके लिए भी शैक्सपीयर कालिदास के और हेगल शंकर के तुल्य होकर बड़े नहीं थे बल्कि कालिदास शैक्सपीयर के और शंकर हेगल के तुल्य होकर बड़े थे। अभी कुछ ही दिन पहले मैंने दर्शन के एक प्रतिष्ठित प्रोफेसर स्वर्गीय डॉ. नन्दकिशोर देवराज का एक लेख देखा। उसमें वे इस बात पर चमत्कृत हैं कि भाषा विषयक बौद्ध अपोहवाद में बहुत कुछ वैसी ही दृष्टि है जैसी सास्योर नाम के एक नाम-विहीन यूरोपीय के लेख में उन्होंने देखी। उन्हें उस दृष्टि की युक्तता और सम्यक्ता से कुछ लेना-देना नहीं है, उनके लिए तो महत्त्व इस बात का है कि हमारे यहाँ के किसी दार्शनिक को भी वैसी बात सूझी जैसी आधुनिक पश्चिम के किसी लेखक को सूझी। वह लेखक मनीषी तो होगा ही, क्योंकि पश्चिम का है। इसमें भारतीय अस्मिता तो स्पष्ट है किन्तु उतना ही स्पष्ट आत्मसम्मान का अभाव भी है। यहाँ कहा जा सकता है कि यदि कोई हम से श्रेष्ठ है तो उसकी श्रेष्ठता हमें स्वीकार करनी ही चाहिए, उसे अपना आदर्श बनाना चाहिए। यह ठीक है, किन्तु यह एक तो आत्मप्रतिष्ठ होकर किया जाता है और एक आत्म-च्युत होकर। हमारे इस स्वीकार में आत्म-च्युति है। देवराज जी यदि अपना भाषा-विचार करते हुए, या बौद्धों के भाषा-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह सूचना देते कि सास्यूर के भाषा-विचार में भी इसके जैसी दृष्टि है, तो वह दूसरी बात होती, वे तो भाषा-विचार के किसी प्रसंग के बिना केवल इस समानता में अतीत भारत का गौरव देख रहे हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व दर्शन-विषयक सब लेखक यही करते रहे, वे भारतीय दार्शनिकों में पाश्चात्य दार्शनिकों की अनुरूपता ही खोजते या गढ़ते रहे। दूसरे विषयों में किसी ने भारत को देखा ही नहीं, सीधे पश्चिम को ही अपना लिया। स्वतन्त्रता के बाद दर्शन में भी यही हुआ। ऐसा होने का मुख्य कारण भाषा कही जा सकती है, किन्तु उससे बड़ा और अधिक मूल कारण आत्म-हीनता और बौद्धिक जर्जरता ही कही जानी चाहिए। यूरोप से प्रथम साम्मुख्य में देश में जो ऊर्जा दिखाई दी थी वह स्वतन्त्रता तक पहुँचते-पहुँचते क्षीण दिखाई देती है। स्वतन्त्रता से पहले स्वतन्त्रता-संग्राम राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, शिक्षा, साहित्य, विचार सभी

क्षेत्रों में दिखाई देता है। उदाहरणतः सरकारी शिक्षा-प्रणाली से पृथक् और उसके विपरीत कितनी ही शिक्षण-संस्थाएँ बनीं और पनपीं, साहित्य पूर्णतः विदेशी प्रभाव से स्वतन्त्र और राष्ट्रीय भावना से भावित रूप में विकसित हुआ। निश्चय ही साहित्य-विचार में कोई सृजनात्मकता दिखाई नहीं देती, किन्तु जहाँ तक वह विश्वविद्यालयों से बाहर रहा वहाँ तक उसने भारत की अतीत परम्परा की ओर ही देखा। संगीत तो खैर अभी तक स्वतन्त्र है किन्तु चित्र और मूर्ति-कला भी स्वतन्त्र नहीं और इनमें भरपूर सृजनात्मकता भी परिलक्षित होती है। किन्तु स्वतन्त्रता तक पहुँचते-पहुँचते सब क्षेत्रों में, संगीत को छोड़कर, एक हास दिखाई देता है जो स्वतन्त्रता के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यह उपर्युक्त शिक्षण-संस्थाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद ये सभी शिक्षण-संस्थाएँ अपनी आत्मा खो बैठीं, कुछ तो सदेह ही नष्ट हो गईं। यह परिवर्तन हमारे सामान्य परिवर्तन का निदर्शक कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता के बाद सब विषयों के विद्यार्थी और अध्यापक यूरोप और अमरीका भेजे जाने लगे, अमरीका से मिली गेहूँ का मूल्य अमरीका संस्कृति में दीक्षा के रूप में चुकाया गया। पी.एल. 480 का पैसा तथाकथित ऐसे विनिमय-कार्यक्रम में लगाया गया जिसमें हमारे अध्यापक बाहर सीखने जाते और उनके अध्यापक यहाँ सिखाने आते थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के फॉर्मों में यह पूछा जाता था कि आप विदेशी उपाधिधारी हैं या नहीं, विदेश में आपका कुछ प्रकाशित हुआ है या नहीं और जो विदेश से उपाधि-प्राप्त होते थे उन्हें आँख मूँदकर वरीयता दी जाती थी। मुझे एक उदाहरण पता है कि कैसे एक व्यक्ति इंग्लैण्ड की एक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख के बल पर विश्वविद्यालय में लेक्चरर से रीडर और रीडर से प्रोफेसर हो गया। ऐसा वह किसी जोड़-तोड़ से बना हो, यह बात नहीं थी, वह केवल अपने उस महान लेख के बल पर ही बना था। दर्शन के क्षेत्र में कम से कम 1975-80 तक इन यूरोप-शिक्षितों का बोलबाला ही नहीं, एकच्छत्र राज्य जैसा था, अन्य शास्त्रों में तो भारत के अपने विचार, अपनी दृष्टि के लिए स्वतन्त्रता के बाद कभी कोई स्थान रहा ही नहीं। दर्शन के क्षेत्र में इस पूरे काल में कुछ लोग विश्वविद्यालयीय क्षेत्र में भी प्राचीन भारतीय दर्शन से भी जुड़े रहे, विशेषतः दक्षिण भारत में। स्वतन्त्रता के बाद इनमें कुछ कमी आई, किन्तु इधर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ी है और अब तो यूरोपीय दर्शन के वैतालिक भी प्राचीन भारतीय दर्शन से जुड़ना अपनी प्रामाणिकता के लिए आवश्यक मानने लगे हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दर्शन के क्षेत्र में दार्शनिक लगभग एक भी नहीं उभरा है, अन्य क्षेत्रों में तो फिर बात ही क्या है।

स्थिति यह है कि ये लोग ही हमारे दार्शनिक, समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री आदि समझे जाते हैं। यहाँ एक उद्धरण देना स्थाने होगा जो एक शीर्षस्थ दार्शनिक माने जाने वाले लेखक के निबन्ध-संग्रह की भूमिका लिखते हुए एक दूसरे शीर्षस्थ

माने जाने वाले दार्शनिक का लिखा हुआ है। ये दार्शनिक जे.एन. मोहन्ती और जे. एल. मेहता हैं। डॉ. महन्ती लिखते हैं “1950वें दशक के भारत में जे.एल. मेहता तथा मैं सम्भवतः एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जो समकालीन जर्मन दर्शन से सम्बन्धित थे। डॉ. मेहता हाइडेगर का अध्ययन कर रहे थे और मैं हुस्सर्ल का।” अब, इनसे कोई पूछे कि तब आप दार्शनिक कैसे हुए? दार्शनिक तो हाइडेगर और हुस्सर्ल ही हुए, आप तो उनके अध्येता और प्रस्तोता ही हुए! किन्तु हमारे देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से ऐसे ही दार्शनिक रह गए हैं श्री अरविन्द को अपवाद छोड़कर और स्वतन्त्रता के बाद इनकी पराधीनता और अधिक बढ़ी है। अवश्य अन्य शास्त्रों से भिन्न, दर्शनशास्त्र में पराश्रयता का एक दूसरा रूप भी है प्राचीन भारतीय दर्शन पर पराश्रयता का, किन्तु है यह पराश्रयता ही। 1976-77 में ‘समकालीन भारतीय दर्शन’ नाम के तीन संग्रह अंग्रेजी में प्रकाशित हुए थे जिन पर अिप्पणी करते हुए मैंने लिखा था कि इनके लेखक भारतीय नागरिक तो अवश्य हैं किन्तु भारतीय दार्शनिक कैसे हैं? कोई दर्शन ‘भारतीय’ तो ‘भारत का तत्त्व’ उसमें होने से ही होगा। यही बात महात्मा गाँधी ने 1910 में ‘हिन्द स्वराज’ पुस्तिका में भारतीय बुद्धिजीवियों को सामान्य रूप से लक्षित करते हुए कही थी। उन्होंने इन्हें ‘भूरे साहिब’ की संज्ञा देते हुए लिखा था कि भारत का शासन सफेद साहिबों से भूरे साहिबों के हाथ में आ जाने से भारत स्वतन्त्र नहीं कहलाएगा, क्योंकि वह कोई भारत का स्वकीय तन्त्र नहीं होगा। उसके 38 वर्ष बाद भारत ऐसा ही स्वतन्त्र हुआ। पं. नेहरू ने स्वयं अपने को भारत का अन्तिम अंग्रेजी शासक कहा था, जो सच था। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करते हुए जो भाषण लाल किले से दिया था, जिसमें उन्होंने भारत की भावी नियति की बात की थी, वह अंग्रेजी में दिया गया था जबकि उसी समय के लगभग गाँधी जी को किसी ने अंग्रेजी में पत्र लिखा था तो उन्होंने अपनी प्रार्थना-सभा में उसका उल्लेख पराधीन मानसिकता का द्योतक कहकर किया था। पर हमारी नियति तो यह पराधीनता ही होने जा रही थी। अभी पीछे भारतीयता की दुहाई देने वाले दल के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण अडवानी ने किसी प्रसंग में बताया कि उन्होंने पिछले दिनों कौन-सी पुस्तकें पढ़ीं, तो वे सब यूरोपीय लेखकों की अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें ही थीं। यही दूसरे सबका भी हाल है। यदि हिन्दी के साहित्यिक लेखकों से भी आप पूछें कि वे इन दिनों कौन-सी पुस्तकें पढ़ रहे हैं तो वे जिन पुस्तकों का नाम लेंगे उनमें अधिकांश यूरोपीयों के अंग्रेजी अनूदित उपन्यास या उत्तर आधुनिकतावादी यूरोपीय लेखकों की पुस्तकें ही होंगी। यह हमारी मानसिकता का द्योतक है। किन्तु दर्शन या अन्य शास्त्रों में तो आपकी बाध्यता भी है कि आप अपनी भाषाओं की किन्हीं पुस्तकों के नाम बता भी नहीं सकते। इन विषयों में हमारे कोई विचारक हैं ही नहीं। इसका कारण क्या है और इस अवरोध को तोड़ा कैसे जा सकता है?

सम्भवतः किसी जाति में सृजनात्मकता होने या नहीं होने का कारण निश्चित और स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता, जैसे व्यक्तियों में नहीं बताया जा सकता। जिस समय कबीर, तुलसी और सूर हमारे यहाँ हुए वह राजनैतिक, सामाजिक रूप में हमारी पराजय और क्षय का युग था, किन्तु इनकी तुलना के व्यक्ति और कवि हमारे यहाँ शताब्दियों पहले और बाद में कहीं दिखाई नहीं देते। उसके बाद अंग्रेजों से पराजय के बाद साहित्यिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, सुब्रह्मण्य भारती, प्रसाद, निराला तथा प्रेमचन्द आदि एक ओर और रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, विवेकानन्द, दयानन्द, अरविन्द आदि दूसरी ओर आध्यात्मिकता तथा राजनीति दोनों को व्याप्त कर उनका अतिक्रमण करते हुए महात्मा गाँधी तीसरी ओर ऐसी सृजनात्मक प्रतिभाएँ इस देश में दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर कोई भी जाति गर्व से अपना सिर हिमालय के उच्चतम शिखर के भी ऊपर उठा सकती है। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में और भी बहुत सी सृजनात्मक प्रतिभाएँ आज तक निरन्तर प्रकट होती देखी जा सकती हैं। किन्तु इस जाति ने इस काल में भी किसी शास्त्र में कोई साधारण कोटि का भी सृजनात्मक चिन्तक क्यों उत्पन्न नहीं किया, यह आश्चर्य की बात है। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद इसकी सम्भावना भी क्रमशः समाप्त होती जा रही है, जिसका सूत्रपात स्वतन्त्रता के पहले हो गया था। द्रष्टव्य है कि ऊपर हमने जो नाम गिनाए हैं वे सब भारत की मनोभूमि से जुड़े हुए थे। इस मनोभूमि से उन्हें वे सब उर्वरक सहज उपलब्ध थे जो बीज के स्वस्थ होने पर उसके स्वस्थ पल्लवन और भरपूर फलन को सम्भव करते हैं। महात्मा कबीर तो अपढ़ ही थे, किन्तु उनकी कविता का बौद्धिक स्तर बड़े से बड़े शिक्षित के लिए भी स्पृहणीय है। सूर की कविता अपने कलात्मक वैभव में अद्वितीय है जबकि वे भी अपढ़ ही थे। महात्मा गाँधी अपने माहात्म्य को वह सब भुलाकर प्राप्त कर पाए जो शिक्षा ने उन्हें दिया था। इस उर्वरक से हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद की स्वयं अर्जित परतन्त्रता ने वंचित कर दिया है। कठिनाई यह है कि आज इस परिस्थिति से निकल पाने की कोई सम्भावना और उपाय भी दिखाई नहीं देता है। आज हमारी शिक्षा कार्पोरेशनों, होटलों और काल-सेंटर्स में आजीविका अर्जन की साधन मात्र के रूप में रह गई है, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के विक्रेता और क्रेता होना, यही हमारे लिए एक पुरुषार्थ रह गया है और यह अब हमारी ही स्थिति नहीं, सारी मानव-जाति ही आज इसमें सहभागी है।

हम यहाँ भारतीयता की बात कर रहे हैं किन्तु हमारे बच्चे अंग्रेजी-माध्यम विद्यालयों में पढ़ रहे हैं और हमारे पास दूसरा कोई उपाय नहीं है। भारतीयता की दुहाई देने वाली राजस्थान सरकार अपने विद्यालयों को अंग्रेजी-माध्यम-विद्यालय बनाने की तैयारी कर रही है, महाविद्यालयों में अंग्रेजी बोलना सिखाने के उपक्रम हो रहे हैं, 'बुद्ध शरणं गच्छामि' पर्यटन-विभाग के विज्ञापन के मन्त्र के रूप में प्रयुक्त

हो रहा है, 'योग', 'कृष्ण' और 'राम' तक 'योग', 'रामा' और 'कृष्णा' हो गए हैं। यह हमारी आज की परिस्थिति है ऐसे में विचार तो क्या, साहित्य और संगीत में भी भारतीयता के लुप्त हो जाने की सम्भावनाएँ बन रही हैं। इस परिस्थिति में हमारे सम्पादक क्या कर सकते हैं? सम्पादक भी तो इसी परिस्थिति और परिवेश में रह रहे हैं। मैंने सम्पादक के रूप में कुछ करना चाहा और 'उन्मीलन' पत्रिका का इसी उद्देश्य से आरम्भ किया। किन्तु इसके लिए लेखक कहाँ से आएँगे? तब सौभाग्यवश मुकुन्द जी मेरे साथ सम्मिलित हुए। हम एक से दो हुए, किन्तु पत्रिका दो से नहीं बनती, तब भी नहीं यदि सम्पादक लेखक भी हो जाएँ। पाश्चात्य दर्शन विषयक लेख हमने अपनी परिधि से बाहर रखे, किन्तु पुराने भारतीय दार्शनिकों के विचारों के विवरण भी कोई 'हिन्द स्वराज' के द्योतक नहीं कहे जा सकते। उन्हें आधार बनाकर ही चाहे, किन्तु कुछ अपनी बात तो हो! किन्तु अब तक किसी ने इस तरह देखा ही नहीं था। सो, इस कठिनाई का हम सामुख्य कर रहे हैं।

# आचार्य शुक्ल का आलोचनादर्श और भारतीयता

डॉ. कुमार विमल\*

आचार्य शुक्ल जी केवल समालोचक और साहित्येतिहासकार ही नहीं थे; वे कवि, गीतिनाट्यकार<sup>1</sup>, कहानीकार, कोशकार, अनुवादक और सफल सम्पादक भी थे। यह दूसरी बात है कि हिन्दी जगत ने आचार्य शुक्ल की 'नोटिस' सबसे अधिक समालोचक के रूप में ली। जब उनका देहावसान हुआ, तब उनके प्रति शोक व्यक्त करते समय भी शोकाभिभूत हिन्दी-सेवियों का ध्यान मुख्यतः उनके समालोचक रूप पर ही रहा। शुक्ल जी के निधन पर एक तत्कालीन वरिष्ठ कवि ने लिखा था

‘अमा निशा थी समालोचना के अम्बर पर,  
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।’

इधर कुछ वर्षों से शुक्ल जी को 'समालोचक' न कहकर 'आलोचक' कहा जाने लगा है, क्योंकि विगत डेढ़-दो दशकों से हिन्दी में 'समालोचक' के स्थान पर 'आलोचक' और 'समालोचना' के स्थान पर 'आलोचना' शब्द का व्यवहार अधिक होने लगा है और उसी अनुपात में इधर आलोचना में सन्तुलन घटता जा रहा है तथा पक्षधरता एवं पत्रकारिता की वचोभंगिमा बढ़ती जा रही है। आलोचना के नाम पर आलोच्य रचना का या तो समनुमोदन (Approbation) प्रस्तुत किया जाता है या उस पर कोई विरोध-पत्र लिखा जाता है। इसीलिए अब हम, अनजाने ही सही, 'सम' पर अधिक ध्यान नहीं देते। अच्छा होता कि हमारी 'आलोचना' 'समालोचना' बनी रहती और हमारे 'आलोचक' 'समालोचक' बने रहते-आलोच्य कवि या कृति के गुण और दोष-दोनों को अपने दृष्टि-पथ में रख कर विश्लेषणमूल्यांकन प्रस्तुत करते।

कहा जाता है कि कवियों और रचनाकारों की तुलना में आलोचकों की जयन्तियाँ कम मनाई जाती हैं। सच तो यह है कि जयन्तियाँ ही कम नहीं मनाई जातीं, आलोचकों के स्मारक भी कम बनाए जाते हैं। ऐसा अकारण नहीं होता। मुख्य

\* लेखक पूर्व कुलपति, प्रशासक, शिक्षाविद एवं लेखक हैं। पता : 96, एम.आई.जी.एच., लोहिया नगर, पटना-20

कारण यह है कि आलोचना के बहुत सारे मूल्यांकन-निष्कर्ष और उसकी भविष्य-वाणियाँ गलत हुआ करती हैं। हेनरी पेयरे (Henri Peyre) ने अपनी पुस्तक 'The Failures of Criticism' में, शायद, आलोचना के इसी दुर्बल पक्ष को रेखांकित किया है। गौण कारण यह है कि असफल कवि ही प्रायः आलोचक बन जाते हैं और इस उक्ति को चरितार्थ करने में नहीं हिचकते कि आलोचक की भूमिका घोड़े के जंघामूल में चिपक कर बैठी हुई उस मक्खी से कुछ-कुछ मिलती-जुलती हुई होती है, जो बीच-बीच में दंश मारकर घोड़े की सरपट चाल को उखाड़ देती है। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिस युग का रचनात्मक साहित्य बौना होता है, उस युग का आलोचनात्मक साहित्य भी उन्नत स्तर का नहीं होता है। अतः आलोचना को अपने युग के रचनात्मक साहित्य के विकास में योग देना चाहिए। इसलिए भी कि साहित्य-सृजन साहित्यालोचन से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक देश की वाक्-संस्कृति (Verbal culture) के दो मुख्य स्रोत होते हैं-एक वहाँ की कुलीन वाक्-संस्कृति होती है और दूसरी वहाँ की देशी (Indigenous) वाक्-संस्कृति होती है, जिस पर ग्रामीण संस्कारों की छाप रहती है और जिसके शिल्पी या कवि समाज की तथाकथित निम्न श्रेणियों से आते हैं और परम्परा-पालन से अधिक किसी नए 'प्रस्थान' के लिए तत्पर रहते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि, उनकी आलोचना के मानदण्ड और निकष के निर्माण में उत्तर भारत की कुलीन वाक्-संस्कृति का ही योगदान था, जिसका आधारिक विभावन वर्णाश्रमवादी संस्कृति से निष्पन्न हुआ था। इसीलिए वे अपने आलोचनादर्श में कबीर और उनके समानधर्मा कवियों को, जो हमारी देशी या देशज वाक्-संस्कृति से जुड़े हुए थे, वैसा महत्त्व नहीं दे सके, जैसा महत्त्व उन्होंने तुलसीदास या उन जैसे कुलीन वाक्-संस्कृति से जुड़े हुए कवियों को दिया। यह दूसरी बात है कि तुलसी और सूर ने अवधी और ब्रजभाषा में लिखा, भारत की कुलीन वाक्-संस्कृति की सर्वाधिक समादृत भाषादेवभाषा में नहीं।

भारतीय परिवेश में, विशेषकर हिन्दी प्रदेश में, एक आलोचक या काव्यशास्त्रज्ञ आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए जो पृष्ठभूमि अपेक्षित मानी जा सकती है, वह शुक्ल जी को प्राप्त थी। सामान्यतः 'एकेडेमिक' प्रतिष्ठा-प्राप्त हमारे आलोचक और आचार्य कुलीन, बुद्धिजीवी, शास्त्रार्थी या प्राध्यापक वर्ग के विशिष्ट जन हुआ करते हैं और शास्त्र तथा संस्कृत के निघंटु से घोषित रूप में जुड़े हुए रहते हैं। इस प्रकार के आलोचकों का तेवर व्याख्याता या विश्लेषक से अधिक निर्णायक का तेवर हुआ करता है। शायद, शुक्ल जी इससे बहुत भिन्न नहीं थे और उनका आलोचनादर्श वर्णाश्रमवादी/सनातनी हिन्दू संस्कारों से प्रभावित था। यह धारणा उनकी 'गोस्वामी जी और हिन्दी जाति' शीर्षक कविता से भी समर्थित होती है।

इसी कविता में आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास की प्रशंसा इसलिए भी की है कि गोस्वामी जी ने 'लोक के भीतर की भगवत्कला' को पहचाना था। 'लोक



के भीतर की भगवत्कला' को समझे बिना आचार्य शुक्ल के 'लोकमंगल' को समझना कठिन है, क्योंकि शुक्ल जी की लोकमंगल की धारणा में लोक के भीतर की उस भगवत्कला का विभावन भी अवस्थित है, जो प्रभु की लोकरक्षिणी शक्ति और लोकरजिनी छवि से पैदा होती है।

'भगवत्कला' की यह धारणा पॉल टिलिख के धर्मशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्र (Theological Aesthetics) की आधारभूत मान्यता से साम्य रखती है। पॉल टिलिख के अनुसार उत्कृष्ट कला सदैव धार्मिक होती है, विभिन्न शैलियों और प्रयुक्तियों में यथार्थ के आध्यात्मिक अर्थ को अभिव्यंजित करती है तथा अन्तर्जगत की निरुपाधिक सार्थवत्ता (Unconditional meaningfulness) को 'belief-ful-Reality' 'Immanent Mysticism' से जोड़ती है। पॉल टिलिख तो यहाँ तक मानते हैं कि प्रत्येक नन्दतिक (Aesthetic) कार्य-व्यापार मूलतः अर्थ-द्योतन की क्रिया है और अर्थद्योतन की प्रत्येक क्रिया किसी न किसी रूप में 'चरम-परम' (Ultimate) अर्थ को पूर्वकल्पित कर प्रारम्भ होती है। इस तरह पॉल टिलिख का धर्मशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्र (Theological Aesthetics) मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का धुर प्रतीप या विलोम प्रस्तुत करता है और उस वस्तुनिष्ठीकरण ('Objectivation) को कला का लक्ष्य नहीं मानता है, जिसे रूपवादी और सोदेश्यतावादीदोनों ही कोटि के विचारक कला के लिए अनिवार्य मानते हैं।

मूल प्रसंग था भगवत्कला और आचार्य शुक्ल के लोकमंगल का। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आचार्य शुक्ल की लोकमंगल की धारण हमारे संरचित समाज (Structured Society) के प्रति एक उदार कल्याण-कामना या स्वस्ति-धारा से जुड़ी हुई थी। उसकी पृष्ठभूमि में वर्ग-संघर्ष का कोई व्यवस्थित दृष्टिकोण या सामाजिक संरचना में मूलभूत बदलाव का कोई उच्छ्वसित स्वर नहीं था। उसकी पृष्ठभूमि में परम्परा से आ रही नीति-संहिता या मूल्य-संहिता द्वारा स्वीकृत सत्य-असत्य का संघर्ष था और उस संघर्ष में असत्य पर सत्य की विजयरावण पर राम की विजयएक पूर्वधारणा (Pre-assumption) की तरह अनुमान्य ही नहीं, सुनिश्चित थी। अर्थात्, शुक्ल जी का लोकमंगल श्रम, कर्म, प्रयत्न और प्रस्वेद से अधिक एक स्वस्तिमूलक दृष्टिकोण था, जिसके स्रोतानुसन्धान के लिए हमें मंगल काव्य-विधा की परम्परारुक्मिणी मंगल, मनसा मंगल, चण्डी मंगल, धर्ममंगल इत्यादि की ओर भी मुड़ना होगा।

आशय यह कि मंगल या लोक-मंगल शुक्ल-पूर्व साहित्य के लिए कोई अपरिचित विषय नहीं था। 'शिवम्', ऐन्द्र क्षेम, सर्वोच्च मंगल, परम शुभ, निःश्रेयस या 'सम्मम बोनम' (Summum Bonum) के रूप में यह पहले भी हमारे साहित्य में समावृत्त रहा है। किन्तु, शुक्ल जी का यह विशिष्ट प्रदेय है कि उन्होंने मंगल को लोक से जोड़कर और लोक तथा मंगल को परस्पर संयुज एवं अद्वय बनाकर हमें

एक ऐसी काव्य-दृष्टि दी, एक ऐसा समाजाश्रित साहित्य-बोधएक ऐसा आदर्श-खिल, किन्तु, वस्तुनिष्ठ जीवन-मूल्य दिया, जो निश्चय ही प्रगतिमुखी है और आज भी हमारे लिए प्रासंगिक है।

कहने वाले कह सकते हैं कि पूर्वोक्त 'सम्मम बोनम', परम शुभ या शिवम् ही थोड़ा सिकुड़ कर आचार्य शुक्ल जैसे चिन्तकों के साहित्य में 'लोक मंगल' बन गया है और अपनी पारम्परिक आध्यात्मिक व्याख्या (metaphysical interpretation) से हटकर अब मार्क्सवादी नति (Marxist slant) के साथ, हमारी सामाजिक संरचना और वर्ग-भेद को दृष्टिगत रखते हुए, शोषितों की कल्याण-कामना का एक आधार बन गया है।

अपने व्यापक अर्थ में लोकमंगल या सर्वोच्च मंगल ही अब तक इतिहास का आधारभूत नियामक प्रत्यय (regulative idea) रहा है। विदित है कि इतिहास-दर्शन की एक प्रबल धारणा 'नैतिक इतिहास' लेखन से जुड़ी हुई है। यह नैतिक इतिहास (Moral History) भी दो तरह का माना गया है। इसका एक प्रकार काँट द्वारा निरूपित 'नैतिक इतिहास' है, जिसमें इतिहास को तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) के साथ जोड़ दिया गया है। नैतिक इतिहास का दूसरा रूप वह है, जिसमें तत्त्व-मीमांसा पर वैसा कोई बल नहीं दिया जाता, लेकिन वैश्व इतिहास (Welt geschichte—'वैल्ट गेशिख्ते') की परिकल्पना की तरह सम्पूर्ण मानव-व्यापार, उसके सृजन, उत्पादन तथा निर्मितियों का आकलन प्रस्तुत करना इतिहास का अभीष्ट माना जाता है।

नैतिक इतिहास के इन दोनों रूपों में या प्रकारों में जो उभयनिष्ठ तत्त्व है, वह 'लोकमंगल' हैसर्वोच्च कल्याण की प्रेरक धारणा है।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल एक साहित्येतिहासकार के रूप में लोकमंगल को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले 'नैतिक इतिहासकार' की श्रेणी में आते हैं। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इन लोकमंगलवादी नैतिक इतिहासकारों की श्रेणी में अब वे भी गिने जा सकते हैं, जो 'सही' इतिहास को 'सतही इतिहास' (surface history) नहीं, 'गहन इतिहास' (depth history) मानते हैं और मूलभूत सामाजिक संरचना में बदलाव तथा वर्ग-संघर्ष की एक व्यवस्थित दृष्टि के आधार पर अपने अध्येतव्य विषय का विश्लेषण करते हैं।

इसमें किसी दो मत की गुंजाइश नहीं कि आचार्य शुक्ल साहित्य और समालोचना के सामाजिक सन्दर्भों के प्रति सचेत थे; किन्तु, उस रूप में सचेत नहीं थे, जिस रूप में हम सचेत हैं या हमारे कुछ समकालीन उन्हें जिस रूप में सचेत साबित करना चाहते हैं। यह सच है कि शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम पृष्ठ पर जहाँ साहित्य को जनता या शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब माना है, वहाँ जनता की चित्तवृत्ति के नियामक कारकों

(factors) में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक कारकों का तो उल्लेख किया है, किन्तु आर्थिक परिस्थितियों और कारकों का नहीं। आर्थिक कारकों की यह अनदेखी वीर गाथाकाल और भक्तिकाल के सामान्य परिचय से लेकर 'गद्य साहित्य की वर्तमान गति' शीर्षक अध्याय के पूर्व तक बनी रह गई है। किन्तु गद्य साहित्य की वर्तमान गति के विश्लेषण तक आते-आते, विशेषकर 'उपन्यास-कहानी' उपशीर्षक के अन्तर्गत, शुक्ल जी ने तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करने वाले आर्थिक कारकों का ऐसा गहन विश्लेषण किया है, जो ध्यातव्य और प्रशंसनीय है। साम्राज्यवादी शोषण के दबूसे में गिरफ्त देश की आर्थिक गिरावट, सरकार की दोषपूर्ण भूमिकर नीति, ग्रामीण अर्थतन्त्र और शहरी अर्थतन्त्र के बीच तनाव, आंशिक औद्योगीकरण के माध्यम से शासकों द्वारा आर्थिक अपवहन की नई साजिश, साधारण जमींदारों और किसानों का शहरी व्यापारियों द्वारा दोहन इत्यादि पर शुक्ल जी ने जो टिप्पणी प्रस्तुत की है, उससे यह स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी के लिए राष्ट्रीयता की भावना और स्वतन्त्रता की कामना, अधिकांश साहित्य-सेवियों की तरह केवल उमंग या भावुकता भर नहीं थी, बल्कि वे राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की संकल्पना के उन आर्थिक तथा सामाजिक आधारों के प्रति भी जागरूक थे, जिनकी ओर धन-जन के अपवहन-सिद्धान्त (Drain Theory) के उद्भावक और समर्थक दादा भाई नौरोजी<sup>2</sup> और रमेशचन्द्र दत्त<sup>3</sup> सम्पूर्ण देश का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे। हिन्दी में जिस समय इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि के समेकित प्रभाव से अंजित दृष्टि लेकर साहित्य के अध्ययन का प्रचलन प्रारम्भ नहीं हुआ था, उस समय शुक्ल जी ने अपने इतिहास में 'नई धारा' के अन्तर्गत 'तृतीय उत्थान' की पृष्ठभूमि उपस्थित करते हुए कृषि-प्रधान देश भारत के सन्दर्भ में शहरी मजदूर और गाँव में रहनेवाले खेतिहर-मजदूर की समाजार्थिक स्थिति में जो अन्तर दिखलाता है, वह उन्हें फकत रस-मीमांसक की सीमाओं से निश्चय ही ऊपर उठाता है। शुक्ल जी ने 'नई धारा' के तृतीय उत्थान के अन्तर्गत लिखा है " (भारत में) यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमें काम करनेवाले थोड़े से मजदूरों की दशा खेत में काम करनेवाले करोड़ों किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मजदूर आन्दोलन साथ लग गया।" (पृष्ठ 646) इसी तरह के प्रसंग में उन्होंने 'उपन्यास-कहानी' उपशीर्षक के अन्तर्गत भी लिखा था, "नगरों के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमींदार (यहाँ शुक्ल जी का आशय 'साधारण जमींदार' से रहा होगा) और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं।" (पृष्ठ 535-536) इस तरह प्रकट है कि गाँव और शहर के अधिकरण-भेद से मजदूर या खेत-मजदूर जैसे सर्वहारा वर्ग की आर्थिक प्रस्थिति (Status) में जो अन्तर आया है और अब हम जिसे Rural, Urban और Rur-urban (ग्रामीण, शहरी और कस्बाती) मजदूरों के विभेद की दृष्टि से विश्लेषित करना चाहते हैं, वह अन्तर 'रस-मीमांसक' शुक्ल जी की दृष्टि में तभी

स्पष्ट था। किसानों की ओर शुक्ल जी का अधिक झुकाव होना स्वाभाविक था अपने आरम्भिक ग्रामीण परिवेश के कारण तथा तत्कालीन राष्ट्रीय परिवेश के कारण। उस समय महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम को विशिष्ट वर्गीय परिप्रेक्ष्य (Elite perspective) की सीमा से निकाल कर उसे व्यापक जनाधार (Mass base) से जोड़ने के लिए किसानों का आह्वान किया था, जिसके फलस्वरूप हमारे देश में कुछ-कुछ अन्तराल पर कई किसान-आन्दोलन होते रहेचम्पारण का किसान-आन्दोलन (1917), खेडा सत्याग्रह (1918), बारडोली सत्याग्रह (1928), तेभागा किसान आन्दोलन (1946-1947), तेलंगना किसान आन्दोलन (1946-1951) इत्यादि। इसलिए भारतीय परिवेश में किसानों और खेत-मजदूरों की ओर शुक्ल जी का अपेक्षाकृत अधिक झुकाव स्वाभाविक ही माना जाएगा।

आचार्य शुक्ल का एक बहुत बड़ा कालजयी अवदान रस-मीमांसा के साथ जुड़ा हुआ है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रचना और आस्वाद का प्रचुर विवेचन मिलता है; सच पूछा जाए, तो रस-सिद्धान्त मुख्यतः आस्वाद यानी भोक्तृपक्ष का गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्यास्वाद या काव्य-रुचि का इतिहास (History of Taste, जिसे जर्मन आलोचना-इतिहास में 'रेत्सेप्शनसगेशिख्ते' 'Rezeptionsgeschichte' कहते हैं) अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आचार्य शुक्ल को सम्भवतः इस पाश्चात्य विभावन की पूरी जानकारी सैद्धांतिक स्तर पर नहीं रही होगी, तथापि उन्होंने अपने इतिहास, आलोचनादर्श और रस-विवेचनविशेषकर साधारणीकरण के प्रसंग में सहृदयों (श्रोताओं, दर्शकों और पाठकों) के रुचि-संस्कार के विश्लेषण को यथास्थान महत्त्व दिया है। आचार्य शुक्ल साधारणीकरण के प्रसंग में आलम्बन को महत्त्व देते हुए रसानुभूति को 'सगुण' तथा 'सावलम्ब' मानते रहे। इसलिए उनके काव्य-बोध, आलोचनादर्श और इतिहास-दर्शन में वह मिहिकामयी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि नहीं मिलती, जो पाश्चात्य आलोचना के 'New Criticism' नामक निकाय में 'Esoteric Aestheticism' के रूप में विकसित हुई।

आधुनिक साहित्य-विवेचन में हम जिसे सम्प्रेषण कहते हैं, वह भी तत्त्वतः साधारणीकरण के प्रसंग से ही जुड़ा हुआ है। किन्तु, इस सन्दर्भ में हमें यह याद रखना चाहिए कि सम्प्रेषण (Communication) पर समुदाय (Community) का अधिकार सदैव समुदाय की संरचना के अनुसार ही रहा है। अर्थात्, सम्प्रेषण पर संरचित समाज (Structured Society) की श्रेष्ठ श्रेणी का मुख्य अधिकार रहता है उस श्रेष्ठ श्रेणी का, जो धर्मसत्ता, धनसत्ता, राजसत्ता और जनसत्ता को भी प्रत्यक्ष रूप में या प्रकारान्तर से अपने अधीन रखती है। सम्प्रेषण के स्तर पर साहित्य का सृजन ही नहीं, उसका संवाद भी मुख्यतः उसी श्रेष्ठ श्रेणी तक सीमित रहता है, जो अपना अधिकार जनसम्प्रेषण के साधनों पर भी रखती है और जिसके पास

साहित्य-सृजन तथा साहित्यास्वादन के लिए अवकाश (leisure) के क्षण पर्याप्त मात्रा में रहते हैं।

इस तरह साहित्य अब तक मुख्यतः समवर्गीय या समश्रेणी संवाद की ही स्थिति बना पाता रहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतः साहित्यकार स्वयं जिस सामाजिक श्रेणी का हुआ करता है, उसके पाठक भी प्रायः उसी सामाजिक श्रेणी के हुआ करते हैं अधिक-से-अधिक उसकी सर्वाधिक समीपी श्रेणी के। यह दूसरी बात है कि साहित्य की कुछ उत्कृष्ट कृतियों में एक 'युनिवर्सल अपील' भी होती है, जिससे विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के पाठक समान रूप में प्रभावित हो सकते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के जो पारम्परिक कार्य (Traditional functions) हैं, भाव, शब्द-सौष्ठव, अलंकार-योजना, रीति, वृत्ति, गुण, यति, गति इत्यादि का विवेचन करना उन्हीं तक आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना को सीमित नहीं रखा, बल्कि उसके कार्य की परिधि का विस्तार किया।

यह बारम्बार कहा जाता रहा है कि जो साहित्यकार, आलोचक या चिन्तक 'मौलिक' होता है, वह अनेक अर्थों और रूपों में अपारम्परिक (unconventional) होता है, इसलिए कि वह लीक से हटकर चलता है और वह परम्परा के असातत्य (discontinuity) या परम्परा से बिलगाव का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए परम्परा की जबरिया खोज से किसी साहित्यकार, आलोचक या चिन्तक की 'मौलिकता' की पहचान नहीं बनाई जा सकती।

अतः यदि हम शुक्ल जी को मौलिक चिन्तक या आलोचक मानते हैं, तो हमें उनके आलोचना-साहित्य में चिन्तन-मनन के उन प्रस्थान-बिन्दुओं को सुनिश्चित करना होगा, जहाँ वे सार्वदेशिक साहित्य-चिन्तन या भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में परम्परा के असातत्य (discontinuity) या परम्परा से बिलगाव का प्रतिनिधित्व करते हैं या परम्परा से बिलगाव को चिह्नित करते हैं।

मूल्यांकन-प्रधान आलोचना-दृष्टि रखने के कारण आचार्य शुक्ल के कुल आलोचनात्मक प्रदेय के साथ कुछ सीमाएँ जुड़ गई हैं। वे अपने आलोचना-संकाय में मूल्यांकन-तत्त्व को प्रमुखता देने के कारण अपनी युग-चेतना और अपनी समकालीन साहित्य-चेतना में समाहित संवेदनशीलता के उन परिवर्तनों (Shifts of sensibility) की समय पर पहचान और परख नहीं कर सके, जिनके कारण उनका युग परवर्ती युगों का पूर्वाभास बनकर तुलसी से अधिक कबीर की ओर, महाकाव्यत्व से अधिक गीतात्मकता की ओर और नैतिक दृष्टि-प्रधान द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता से अधिक छायावादी उन्मुक्तता की ओर अभिमुख होने की चुपचाप तैयारी कर रहा था।

कुछ लोगों की यह भी शिकायत है कि शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैसा एक बड़ा इतिहास ही कहा जाएगा और जिसमें आधुनिक हिन्दी

गद्य के विकास तथा गद्य साहित्य पर कम नहीं लिखा गया है प्रेमचन्द के लिए कुछ ही पंक्तियाँ छिटपुट रूप में लिखी हैं।

किन्तु, इन सीमाओं के बावजूद आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना ही नहीं, समकालीन भारतीय आलोचना के गौरव-शिखर हैं इस तथ्य से कौन इनकार कर सकता!

आचार्य शुक्ल को भारत की भारती की सामर्थ्य में बहुत विश्वास था। इसलिए उन्होंने अपनी एक कविता में लिखा है

‘भाव-भूमि का भरत-खण्ड यह  
सदा, भारती! तू भरती रह।’

यह लक्ष्य करने योग्य है कि 'नारायणमय नरता' के आकांक्षी आचार्य शुक्ल का आलोचनादर्श भारतीयता से निषेधित था।

## संदर्भ

1. मेरा संकेत उनके गीतिनाट्य 'भारत और वसन्त' की ओर है, जिसका पटाक्षेप 'वन्दे मातरम्' की 'भीषण ध्वनि' (ये शब्द शुक्ल जी के हैं) के साथ गीतिनाट्यकार द्वारा निर्दिष्ट किया गया है और जिसकी रूपकात्मकता की तुलना रवीन्द्र नाथ ठाकुर की नाट्यरचना 'अचलायतन' तथा द्विजेन्द्र नाथ ठाकुर की प्रसिद्ध लम्बी कविता 'स्वप्न-प्रयाण' के साथ की जा सकती है।
2. Poverty and Un-British Rule in India by Dadabhai Naoroji, Sonnen Scheir & Co., London, 1901.
3. Economic History of India (Two Volumes), Romesh Chunder Dutt, 1902 & 1904.

# ऋग्वेदिक वनस्पति और प्राणीजगत

कृपाशंकर सिंह\*

## वनस्पति

ऋग्वेद के दसवें मण्डल (10.90.4) में कहा गया है कि तीन पादों वाला वह पुरुष (त्रिपात् पुरुषः) सबके ऊपर और सर्वोत्तम है। उसका व्यक्त एक पाद (अंश) यहाँ जगत रूप है। जो भोजन व्यापार से युक्त चेतन प्राणी है या जो अचेतन है (सः अशन-अनशने अभि) उन सबमें वही व्याप्त है।

इस तरह ऋग्वेद के प्रणेता ऋणि मनुष्य और मनुष्येतर जीव-जन्तुओं के साथ ही वनस्पतियों, पेड़-पौधों में भी उसी एक सत्ता के विविध रूपों को देखते थे। इसीलिये ऋग्वेद में गौ, मेढक आदि के साथ वृक्ष, नदी, वनस्पतियाँ, अरण्य आदि सभी को देवताओं की कोटि में रखा गया है। सभी उनके लिए पूज्य हैं। विश्वामित्र ने सातवें मण्डल (7.34.25) में देवताओं के साथ **औषधियों** और वृक्षों के लिए भी स्तोत्र कहे हैं—इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, जल, औषधियाँ और वृक्ष हमारे इस स्तोत्र को सुनें। मरुतों के पास रहकर हम सुख से रहेंगे। तुम सदा हमारी रक्षा करो।

*तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।*

*शर्मन्त्याम मरुतामपस्थे मयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (7.34.25)*

दूसरे मण्डल में कहा गया है कि आदित्य देव जड़ और जंगम सभी को धारण करते हैं, और सारे भुवनों की रक्षा करते हैं। (2.27.4)

एक अन्य ऋचा (2.35.8) में कहा गया है जो अपांनपात् सत्य और एक रूप है तथा शुद्ध जल के मध्य स्थित है, भुवन में उसकी शाखाएँ फैली हैं। **फूलों** और **फलों** से युक्त वनस्पतियाँ उसी से उत्पन्न होती हैं।

शरीर को स्वस्थ रखने वाली औषधियों को ऋग्वेदिक ऋषियों ने माता के समान हितकारिणी बताया। ऋणि अथर्वा के पुत्र भिषक् कहते हैं किहे माता तुल्य

\* डॉ. कृपाशंकर सिंह, एम.ए. (भाषा विज्ञान), पी-एच.डी. (दिल्ली विश्वविद्यालय), शिकागो विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला तथा दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध और अध्यापन के बाद अब पूर्णकालिक लेखन। पतासी 4/86/2 सफदरजंग विकास क्षेत्र, हौजखास, नई दिल्ली-16

हितकारिणी **औषधियों**, तुम्हें पाने के लिए मैं अश्व, गौ, भूमि, वस्त्र तथा अपने आप को भी तुम्हारे लिए देता हूँ। (10.97.2)

ऋग्वेद में अनेक वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। यह एक सुखद बात है कि उनमें से एकाध (जैसे सोम) को छोड़कर शेष सभी वनस्पतियाँ उत्तर और पश्चिमोत्तर भारत में आज भी मिलती हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित उन पेड़-पौधों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है

## अश्वत्थ वृक्ष (पीपल)

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में अश्वत्थ का नामोल्लेख हुआ है

*अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।*

*गोमाज इत्किलासथ यत्सनवथ पुरुषम्॥ (10.97.5)*

औषधियों, तुम **अश्वत्थ** वृक्ष और **पलाश** वृक्ष पर निवास करती हो। तुम रोगी के ऊपर कृपा करती हो, उसे बल प्रदान करती हो।

अश्वत्थ को पवित्र वृक्षों में माना गया है। ऋग्वेदिक काल के बाद की हड़प्पा सभ्यता के आरम्भिक काल के हरयाणा के हिसार जिले के कुणाल के अवशेषों में प्राप्त मृद्भाण्ड के टुकड़े पर अश्वत्थ के पत्ते का चित्र मिला है। इससे भी इसके प्रति विशिष्ट भाव को बल मिलता है।

उत्तर भारत में अश्वत्थ अर्थात् पीपल बहुतायत में मिलते हैं। आज भी यह अत्यन्त पवित्र वृक्ष के रूप में मान्य है। इसके तने में धागा लपेट कर और इसकी जड़ के पास दीया जलाकर तथा जल चढ़ाकर और प्रदक्षिणा करके इसकी पूजा की जाती है। उगे हुए पीपल के पौधे को उखाड़ना अशुभ माना जाता है।

## किंशुक (पलाश) तथा शाल्मली (सेमल)

किंशुक और शाल्मली का उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल की एक ऋचा में किया गया है

*सुकिंशुकं शाल्मलिं विश्व रूपम् हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।*

*आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ (10.85)*

सूर्या, तुम अपने पतिगृह को जाते समय शोभन **पलाश** वृक्ष (सुकिंशुकम्) और **शाल्मली** (शाल्मलिम्) वृक्षों से बनाए गए सुवर्ण वर्ण (हिरण्यवर्णम्) और अच्छे प्रकार के और सुन्दर चक्र वाले (सुवृतम् सुचक्रम्) रथ पर चढ़ो। तुम अपने पति के घर में सुखकर और अमृत स्थान को प्राप्त होवो।

इस ऋचा से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदिक आर्य पलाश और सेमल की लकड़ी से रथ का निर्माण करते रहे होंगे। ये दोनों वृक्ष उत्तरी तथा मध्यभारत आदि सभी

स्थानों में बहुतायत में मिलते हैं। इनमें वसन्त के महीनों (मार्च, अप्रैल) में अत्यन्त खूबसूरत फूल आते हैं। पलाश में फूल आने के पहले उसका पतझड़ हो जाता है, पेड़ पर केवल गहरे लाल रंग के फूल दिखाई देते हैं।

पलाश का पेड़ सामान्यतया मझोले आकार का होता है पर सेमल का पेड़ बड़े आकार का होता है। यह एक दीर्घजीवी वृक्ष है, जिसकी शाखाओं पर काँटे निकले होते हैं। इसके फूल अधिकतर लाल रंग के होते हैं, पर किसी-किसी पेड़ में पीले और किसी में घूसर रंग के फूल भी खिलते हैं इसके फूल बड़े आकार के और गूदेदार होते हैं, जो आम फूलों की अपेक्षा काफी भारी होते हैं। सेमल का फल पकने पर फट जाता है, जिससे बहुत मुलायम सफेद रुई निकलती है।

सेमल के एक से डेढ़ वर्ष तक के नए वृक्ष की जड़, जिसे सेमल मूसली कहते हैं, में कई तरह के औषधीय गुण होते हैं।

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में भी सेमल का उल्लेख हुआ है। एक ऋचा में कहा गया है

*परशुं चिद्वि तपति शिम्बलं चिद्वि वृश्चति।*

*उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति॥ (3.53.22)*

हे इन्द्र, जैसे फरसे से वृक्ष पीड़ित होता है, वैसे ही हमारे शत्रु पीड़ित हों। **सेमल** के फूल जैसे अनायास ही डाल से गिर पड़ता है, वैसे ही हमारे शत्रुओं के अंग गिर पड़ें। भोजन पकाते समय जैसे हाँड़ी से फेन गिरता है, वैसे ही मेरे मंत्रबल से आहत होकर शत्रु अपने मुख से फेन गिरावे।

ऋग्वेद में शात्मली का उल्लेख विष के सन्दर्भ में भी किया गया है। सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि ने कहा है

*यच्छशल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम्।*

*विश्वे देवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्मेन रपसा विदत्सरुः॥*

**(7.50.3)**

जो विष शात्मली (यत् विषम शल्मलौ) वृक्ष में होता है, और जो विष नदियों के जल में तथा जो विष औषधियों (ओषधीभ्यः) से उत्पन्न होता है, हे विश्वेदेव, उस विष को हमसे दूर करो। छिपकर आने वाले साँप पगध्वनि द्वारा हमें जानने न पावें।

## खदिर (खैर), शिंशपा (शीशम)

ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में कहा गया है

*अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजों धेहि स्पन्दने शिशपायस*

*अक्ष वीलो वीत्मित वीलयस्व मा यामादस्मादव जीहिणो नः (3.53.19)*

हे इन्द्र, हमारे रथ में लगे **खदिर** काष्ठ को दृढ़ करो, रथ में लगे **शीशम** को दृढ़ करो। हे हमारे द्वारा दृढ़ बनाया गया धुरा तुम सुदृढ़ बने रहो। हमारे इस गतिमान रथ से हमें गिरा न देना।

खदिर को हिन्दी में खैर कहते हैं यह शिम्बी वानस्पतिक कुल का वृक्ष है। इसका बबूल उपकुल है। इसके पेड़ मध्यम आकार के काँटेदार होते हैं, फूल पीली आभा लिए हुए बादामी रंग के होते हैं। यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश, उत्तर भारत, मध्य भारत, कोंकण आदि सभी स्थानों में जंगली रूप में पाया जाता है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पान में खाने वाला कथा इसी खदिर के सार से बनता है।

ऋग्वेद में उल्लिखित खदिर और **बबूल** एक ही वानस्पतिक कुल के वृक्ष हैं। जिस दृढ़ काठ का उल्लेख ऊपर की ऋचा में किया गया है, वह बबूल की ही लकड़ी है। बबूल भी पश्चिमोत्तर और उत्तर भारत के साथ मध्य भारत आदि क्षेत्रों में बहुतायत में मिलता है। बबूल की छाल चमड़ा सिझाने के लिए प्रयोग में आती है। इसका गोंद कई तरह की दवाओं में प्रयुक्त होता है। इसमें पीले रंग के फूल लगते हैं।

बबूल और **शीशम** की लकड़ी अत्यन्त मजबूत होती है। खेती के काम के उपयोग में आने वाले हल आदि अनेक उपकरण इन्हीं से बनाए जाते हैं।

शीशम भी शिम्बी वानस्पतिक कुल का वृक्ष है। पूरे भारत में इसे देखा जा सकता है। यह एक बहुप्रचलित इमारती लकड़ी है।

## विभीदक (बहेड़ा)

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में विभीदक का उल्लेख हुआ है

*पावेया मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।*

*सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीद्रको जागु विर्मह्यमच्छाना॥*

**(10.34.1)**

बड़े-बड़े गोटे पासा खेलने के तख्ते पर इधर-उधर लुढ़कते हुए मुझे हर्षित करते हैं (मा मादयन्ति)। मुंजवान (मौजवतः) पर्वत पर उत्पन्न होने वाली सोमलता का रस पीने पर जैसा आनन्द मिलता है, वैसे ही **बहेड़े** (विभीदकः) के काठ (या फल) से बना गोटा मुझे आनन्दित (मह्यम अच्छान्) करता है।

बहेड़ा भारत के लगभग सभी स्थानों में पाया जाता है। यह बड़े आकार का छायादार वृक्ष है। पकने पर इसके फल पीताभ भूरे रंग के होते हैं। फल लम्ब-गोल आकार का लगभग एक इंच का होता है। फल के अन्दर गुठली होती है, जिसे तोड़ने पर मीठी गिरी निकलती है। गुठली अत्यन्त सख्त होती है। आयुर्वेदिक औषधियों में बहुप्रचलित त्रिफला के तीन फलों में बहेड़ा भी एक है।

## पौधे और घास

### उर्वारुक (ककड़ी फूट)

ऋग्वेद में ककड़ी का उल्लेख भी मिलता है। सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि ने कहा है

*त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।  
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योमुक्षीय मामृतात्॥ (7.59.12)*

हम पुण्य रूप और पुष्टि बढ़ाने वाले और तीनों कालों में रक्षण करने वाले परमेश्वर (त्र्यम्बकम्) की पूजा करते हैं। वह हमें **ककड़ी** की तरह (उर्वारुकमिव) मरण (मृत्युबंधन) से मुक्त करे और अमृत (चिर जीवन) से मुक्त न करे।

ककड़ी और फूट पंजाब, उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों तथा मध्य भारत आदि प्रदेशों में मिलते हैं। इसकी बेल में फूल पीले रंग के होते हैं। ककड़ी आमतौर पर पतली और लम्बी होती है, जिसे कच्ची ही खाते हैं। फूट मक्का के खेतों में बोया जाता है। फूट आमतौर पर लम्बोतरा और मोटा होता है, जो पक जाने पर नाल से अलग हो जाता है और फट जाता है। फूट नाम इसी के कारण पड़ा है। फूट खाने में फीका होता है, आमतौर पर इसे गुड़ के साथ खाते हैं।

### सोमलता

सोम हरे रंग की एक लता के रस को निचोड़ कर बनाया जाता था। ऋग्वेद में इसके निचोड़ने, छानने और फिर छाने हुए रस में दूध, दही आदि मिलाने का वर्णन अनेक ऋचाओं में हुआ है।

सोमलता आज अप्राप्य है। यह भी अन्तिम रूप से तय नहीं है कि यह लता कहाँ पैदा होती थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.34.1) से यह संकेत मिलता है कि **सोमलता** मुंजवान पर्वत (सम्भवतः गंधार कम्बोज प्रदेश) में पैदा होने वाली लता रही होगी।

सोम ऋग्वेदिक ऋषियों का एक अत्यन्त प्रिय पेय था, जिसके पान के लिए वे देवताओं, विशेष रूप से इन्द्र का आह्वान करते थे। ऋग्वेद के सबसे पुराने ऋषियों भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र से लेकर बाद के मधुच्छन्दा शुनःशेष, प्रतर्दन, आदि अनेक ऋषियों ने सोम की प्रशंसा में ऋचाएँ कही हैं। काण्व ऋषियों (8.48) ने सोम की विशेषताओं में कहा है कि यह मनुष्यों के रोगों को दूर कर उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करता है; यह आयुवर्द्धक है और मन में अच्छे विचारों को लाता है।

## कमल

ऋग्वेद में कमल का नामोल्लेख दो ऋचाओं में हुआ है। दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.68.10) में उल्लेख है किपाला जैसे **कमल** के पत्तों को नष्ट कर देता है, वैसे ही 'बल' की सारी गायों का बृहस्पति ने हरण किया।

दूसरा उल्लेख छठे मण्डल में भरद्वाज ऋषि की एक ऋचा (6.61.2) में हुआ है, जिसमें सरस्वती नदी के वेगवान प्रवाह का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सरस्वती नदी अपने बल और प्रचण्ड तरंगों से किनारे के पर्वतों के पाद-भाग को **कमल-मूल** खोदने वाले के सदृश तोड़ती चलती है।

कमलमूल खोदने वाले के उल्लेख से लगता है कि ऋग्वेदिक समाज में कमल मूल (कमल ककड़ी) खाने का चलन रहा होगा। आज भी कमल ककड़ी की सब्जी और उसके पकौड़े बड़े मन से खाए जाते हैं।

भारत के पश्चिमोत्तर और उत्तरी प्रदेशों के जलाशयों में कमल होता है। कमल का फूल सूर्योदय के बाद खिलता है और सूर्यास्त के बाद उसकी पंखुडियाँ बन्द हो जाती हैं। कमल के बीज को भी खाने का प्रचार है, यह कई तरह की आयुर्वेदिक दवाओं में भी प्रयुक्त होता है। बीज को कमलगड्डा कहते हैं।

### तृण (घास)

ऋग्वेद के पहले मण्डल की एक ऋचा में कहा गया है

*शरासः कुशरासो दुर्भासः सैर्याउत।  
मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्तता॥ (1.19.3)*

**सरपतों** में, **कुशों** में, तालाबों के किनारे की **घास** में, **मूँज** में, **वीरण** आदि घासों में छिपे विषधर मुझसे लिपट (अलिप्तत) जाते हैं।

### सरपत (मूँज)

सरपत या मूँज एक तरह का तृण है। यह पंजाब और उत्तर प्रदेश से लेकर भारत के लगभग सभी इलाकों में उगता है। यह घास गुच्छों में उगती है जिसके लम्बे-लम्बे डंठल होते हैं। डंठल अन्दर से ठोस और बाहर से चिकने होते हैं।

लम्बे-लम्बे पत्ते ऊपर की ओर नुकीले होते जाते हैं। छिलके से बान बटते हैं और चटाई बुनते हैं। इससे तैयार की गई रस्सी घर और खेती के उपयोग में आती है। हिन्दुओं में उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को इसकी करधनी पहनाते हैं। यहाँ की गर्म जलवायु में सरपत आदि के झुरमुट में साँप बहुधा दिखाई देते हैं। इसीलिए सरपत आदि तृणों के झुरमुट में मिलने वाले साँपों से ऋग्वेदिक ऋषि अपने बचाव की प्रार्थना करते हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (1.161.8) में **मूँज** से सोम छानने का वर्णन है। दीर्घतमा ऋषि की इस ऋचा में कहा गया हैदेवो! तुमने हमसे कहा था, “हे सुधन्वा के पुत्रो तुम लोग इसी सोमरस को पियो अथवा **मुञ्ज** तृण से शोधित (मुञ्जेनजनम्) सोम का पान करो।”

## कुश

ऋग्वेद में कुश का उल्लेख कुछ ऋचाओं में हुआ है। कुश यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला एक तरह का तृण है। आज भी यज्ञ या हवन में कुश का प्रयोग होता है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि की एक ऋचा में कहा गया है

*एकं च विंशति च श्रवस्या वैकर्ण्योर्ज नान्नाजा न्यस्तः ।  
दस्मो न सद्यन्नि शिशाति बर्हिः शूर सर्गमकृणोदिन्द्र एषाम्॥ (7.18.11)*

राजा सुदास ने यश प्राप्त करने के लिए दो प्रदेशों के इक्कीस (विंशतिम् च एकम् च) मनुष्यों का वध कर डाला था। युवक अध्वर्यु यज्ञगृह में जैसे **कुश** काटता है, वैसे ही सुदास शत्रुओं को काटता है। सुदास के सहायतार्थ वीर इन्द्र ने मरुतों को उत्पन्न किया था।

यज्ञ में ‘होता’ (यज्ञ का प्रधान पुरोहित) का सहायक पुरोहित जो ‘होता’ के निर्देश के अनुसार यज्ञ सम्बन्धी क्रिया करता है, उसे अध्वर्यु कहते थे।

## वीरण (खस)

वीरण भी एक तरह की घास है। यह उत्तरी भारत से लेकर दक्षिण तक के लगभग सभी प्रदेशों में होता है। नीची गीली जमीन में इसकी पैदावार अधिक होती है। खस गांडर की जड़ है यह जड़ पीलापन लिए हुए बादामी रंग की होती है। इसकी पतली-पतली जड़ें दो ढाई फुट लम्बी होती हैं। जड़ों को ही खस कहते हैं, जिसमें बड़ी मनमोहक खुशबू होती है। कमरे को ठण्डा रखने के लिए गरमी के दिनों में खस की टट्टियों को दरवाजों और खिड़कियों पर लगाते हैं, खस से अत्यन्त मनमोहक इत्र भी बनाया जाता है।

## दूर्वा (दूब)

दूब भी तृण कुल की घास है। ऋग्वेद में यम के पुत्र दमन ऋषि ने अग्नि की स्तुति करते हुए दसवें मण्डल की एक ऋचा में कहा है

*यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।  
क्रियाम्बुत्रभ रोहतु पाकदूर्वा ब्यलकशा॥ (10.16.13)*

हे अग्नि, तुमने जिस भू-भाग को जलाया है, उसे बुझाओ। उस स्थान पर कुछ जल हो और शाखाओं वाली **दूब** उत्पन्न हो।

दसवें मण्डल की ही एक अन्य ऋचा में कहा गया है

*अव स्वेदा इवाभितो विष्वक्पतन्तु दिद्यवः । दूर्वायाइव तन्तवो  
व्य? स्मदे तु दुर्मति देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥*

(10.134.5)

इन्द्र के चमचमाते शस्त्र स्वेद बूँदों के समान सब ओर गिरें। **दूब** के तन्तुओं के समान (दूर्वायाः इव तन्तवः) उसके आयुध सब ओर फैलें। हमारी दुर्बुद्धि दूर हो। कल्याणमयी माता ने तुम्हें जन्म दिया है।

इसी तरह दसवें मण्डल की ही एक ऋचा में है

*आयने ते परायवे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।  
हदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे॥ (10.142.8)*

इस ऋचा के प्रणेता शारंग ने अग्नि की स्तुति में कहा हैहे अग्नि, तुम्हारे आने जाने के मार्ग में फूलों वाली **दूब** उगे (पुष्पिणीः दूर्वा रोहन्तु)। यहाँ समुद्र स्थित है, यहाँ सरोवर हैं, जिनमें श्वेतकमल पुष्प (पुण्डरीकाणि) फूलते हैं।

दूब भारत के सभी भागों में अपने आप उगती है। इसके पौधे धरती पर छते के रूप में फैलते हैं। इसकी पत्तियाँ आगे से नुकीली और मुलायम होती हैं। दूब गहरे हरे रंग की होती है।

ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में आत्रेय ऋषि ने कहा है

*उत स्म दुर्गुभीयसे पुत्रो न ह्यार्याणाम् ।  
पुरु यो दग्धासि वनाग्ने पशुर्न यवसे॥ (5.9.4)*

**घास** के मैदान में छोड़ा हुआ पशु जिस तरह घास खाता है, उसी तरह से, हे अग्नि, तुम समग्र वन को जला देते हो।

## शीयाल (सिवार)

सिवार एक जलीय पौधा है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में इसका उल्लेख हुआ है। ऋचा में कहा गया है

*अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीयालमिव वात आजत् ।  
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याग्रमिव वात आ चक्र आ गाः॥ (10.68.5)*

जैसे तीव्र वायु जल के ऊपर से **सिवार** (शीयालम्) के आवरण को हटाता है, वैसे ही सूर्य ने आकाश से अंधकार को दूर किया। जैसे हवा बादलों को हटाती है, वैसे ही बृहस्पति ने विचार करके ‘बल’ के गोपन स्थान से गायों को बाहर निकाला।

सिवार जड़विहीन पौधा होता है। भारत में यह पंजाब, उत्तर, प्रदेश, बिहार बंगाल से लेकर दक्षिण भारत के स्थिर पानी के ताल, तलैयों में सर्वत्र उगता है और धीरे-धीरे पानी के ऊपर काई जम जाती है, जो सामान्यतया गहरे हरे रंग की होती है।

ऋग्वेद में पेड़-पौधों और अरण्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव प्रदर्शित किया गया है। ऋग्वेदिक ऋषियों ने अरण्य को देवता कहकर उसकी स्तुति की है। अरण्यानी प्रभूत मात्र में हमें सुस्वादु फल प्रदान करती है (10.146.5)। वह कृषि के बिना बहुल अन्न वाली है, पशुओं की माता है (10.146.6)। माता स्वरूप अरण्यानी ने अग्नि को जन्म दिया है (5.11.3)। माता अरण्यानी के गर्भ में कई वर्ष तक बढ़ते रहने के बाद पुत्र अग्नि का जन्म हुआ, उसे हमने देखा (5.2.2)।

ऋग्वेदिक ऋषियों के मन में वृक्षों और वनों के प्रति जो भाव दिखाई देता है, वही भाव आज भी हिन्दू मानस की गहराइयों में पैदा हुआ है। अनेक तरह के पेड़-पौधों की नित्य प्रति की पूजा उसी का एक रूप है।

दूसरी बात यह है कि जिन पेड़-पौधों और वन का चित्रण ऋग्वेद में हुआ है, उससे निश्चयपूर्वक यह धारणा पुष्ट होती है कि पेड़-पौधों और वन के वे क्षेत्र गंगा और सिन्धु नदी के मध्य के क्षेत्र रहे होंगे, जो ऋग्वेदिक आर्यों का मूल-स्थान रहा था।

### प्राणीजात

ऋग्वेद में जिन जीव-जन्तुओं का वर्णन मिलता है, उनमें, गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट, शेर, महिष, भेड़िया, कुत्ता, हरिण, भेड़, बकरी आदि पशुओं के नाम आते हैं। सरीसृप तथा अन्य लघु जीवों में साँप, बिच्छू, चूहा, नेवला, गोह, चींटी आदि के नाम हैं। जल के जीवों में मछली, मेढ़क का उल्लेख है। पक्षियों में शकुनी (श्यामा चिड़िया), बाज, हंस, मयूर, इक्कीस प्रकार की छोटी चिड़ियाँ, कौवा, शुक, सारिका आदि का वर्णन हुआ है। मक्खियों में मक्खी और मधुमक्खी का नाम आता है। इन जीव-जन्तुओं को लेकर ऋग्वेद में जो कुछ कहा गया है, उसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

**गौऋग्वेद** में उल्लिखित पशुओं में गौ का उल्लेख सम्भवतः सबसे अधिक ऋचाओं में हुआ है। ऋग्वेद के छठे मण्डल में भरद्वाज ऋषि ने अट्ठाइसवें सूक्त में गौ व इन्द्र की स्तुति की है। इसी तरह दसवें मण्डल के सूक्त उन्नीस का देवता गौ है। इन दोनों सूक्तों में गौ को महिमामण्डित किया गया है। पवित्रता और लगाव की दृष्टि से ऋग्वेदिक ऋषियों के मन में जो स्थान गाय को प्राप्त था, वह न तो अश्व को प्राप्त था और न ही किसी अन्य पशु को। छठे मण्डल की एक ऋचा में भरद्वाज ऋषि ने कहा

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीटं चिकृणुथा सुप्रतीकम् ।  
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥(6.28.6)

हे गायों, तुम हमें बलिष्ठ बनाओ, तुम दुर्बल और असुन्दर शरीर वाले को सुन्दर शरीर वाला बनाओ। हे सुन्दर बोल वाली गायों, हमारे घर का कल्याण करो।

ऋग्वेद के लगभग सभी मण्डलों में गाय, बैल, साँड़, और बछड़े का उल्लेख किसी न किसी रूप में हुआ है। इन वर्णनों में यह पूर्णतया आभासित होता है कि ऋग्वेदिक ऋषियों के मन में गौ के प्रति सघन श्रद्धा का भाव रहा होगा। इसीलिए गौ को अघ्न्या कहा गया है।

### अश्व

ऋग्वेदिक समाज में अश्व का भी बहुत महत्त्व था। ऋग्वेदिक काल का वह एक अत्यन्त उपयोगी पशु रहा था। लेकिन तब भी अश्व को लेकर स्वतन्त्र सूक्त की रचना नहीं की गई है।

दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त (10.90) की एक ऋचा (10) में कहा गया है किउससे (विराट पुरुष से) **अश्व** पैदा हुए तथा वे पशु भी पैदा हुए जिनके मुख में ऊपर नीचे दोनों ओर दाँत हैं। उसी से गौवें पैदा हुईं, बकरियाँ और भेड़ें पैदा हुईं।

दसवें मण्डल के ही प्रजापति सूक्त (130) की एक ऋचा (7) में कहा गयासात ज्ञान द्रष्टा ऋषि (सप्त दैव्याः ऋषयः) स्तोत्रों और छन्दों सहित परिमाणों से युक्त सतत यज्ञ करते हैं। जैसे **अश्वों** के संचालन के लिए सारथि हाथ में लगाम पकड़ता है, वैसे ही ऋषियों ने प्राचीन लोगों के मार्ग को जानकर पकड़ा। प्राचीन लोगों के मार्ग का अनुसरण किया।

दूसरे मण्डल की एक ऋचा (2.4.4) में अग्नि की स्तुति में कहा गया है किजैसे रथ का **अश्व** बार-बार पूँछ कँपाता है, वैसे ही अग्नि भी अपनी शिखा कँपाते हैं।

इसी सूक्त की एक अन्य ऋचा में (2.4.6) अग्नि के लिए कहा गया हैप्यासे की तरह अग्नि वनों को दग्ध करते हैं, जल की तरह इधर-उधर जाते हैं, **अश्व** की तरह शब्द करते हैं।

तीसरे मण्डल के तैत्तिरीय सूक्त (3.33.1) में विश्वामित्र ने कहा हैपर्वत की गोद से निकलकर समुद्र से मिलने की अभिलाषा से विपाशा (व्यास) और शतुद्री (सतलुज) नाम की दो नदियाँ घुड़साल से विमुक्त **घोड़ियों** की तरह, अथवा बछड़ों के स्नेह की अभिलाषिणी दो गायों की तरह, वेग से समुद्र की ओर जाती हैं। ऋचा इस तरह है

प्र पर्वतानामुशती उपस्यादश्वे इव विषिते हासमाने ।  
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्रीपयसा जनेते॥



तीसरे मण्डल के पहले सूक्त की चौथी ऋचा (3.4.4) में कहा गयादीप्तिशाली अग्नि के उत्पन्न होते ही उन्हें सात नदियों ने बढ़ाया। **घोड़ी** जिस प्रकार सद्यः जन्मे बछड़े के पास जाती है, वैसे ही नदियाँ नवजात अग्नि के पास गईं।

एक और ऋचा (3.26.3) में कहा है **घोड़े** का हिनहिनाने वाला बच्चा जैसे घोड़ी के द्वारा बढ़ाया जाता है, वैसे ही वैश्वानर अग्नि कौशिकों के द्वारा बढ़ाए जाते हैं।

वामदेव ऋषि ने उषा की स्तुति में कहा है **अश्व** की तरह सुन्दर, दीप्तिमती उषा अश्विनीद्वय की तरह स्तुत हों। (4.52.2)

मरुद्गण की स्तुति में श्यावश्व ने कहा हैभेदन किए गए बादल से निकलती हुई जल राशि वेग के साथ आकाश में इस तरह प्रसारित होती है, जैसे दुधारू गाय दूध देती है। शीघ्रगामी **अश्व** जिस प्रकार मार्गों में दौड़ते हैं, उसी तरह नदियाँ तेजी से बहती हैं। (5.53.7)

पाँचवें मण्डल में ही अत्रि ऋषि के पुत्र भौम ने पर्जन्य की स्तुति में कहा हैरथी जिस प्रकार से कोड़े से **अश्वों** को उत्तेजित करता हुआ योद्धाओं को प्रेरित करके प्रकट करता है, उसी प्रकार पर्जन्य भी मेघों को प्रेरित करके बरसने वाले बादलों को प्रकट करते हैं। (5.83.3)

इसके आगे के सूक्त (5.84.2) में भौम ने पृथ्वी के लिए कहा हैहे गमनशील पृथिवी देवी (विचारिणी), तुम शब्द करने वाले **अश्व** की तरह जल से परिपूर्ण मेघ को प्रक्षिप्त करती हो।

बृहस्पति के पुत्र शम्भु ने इन्द्र की स्तुति में कहा हैगर्जन करने वाले पर्जन्य जैसे मेघ को जन्म देते हैं, वैसे ही स्तोताओं के रक्षक इन्द्र स्तोताओं को देने के लिए **अश्व** और गायें उत्पन्न करते हैं। (6.44.12)

इन्द्र की स्तुति में ही शम्भु ने सूक्त 46 में कहायद्यपि डर जाने पर **घोड़े** जोर से हिनहिनाते हैं, तो भी नीचे की ओर बहने वाली नदियों की तरह वे ही वेगवान घोड़े बाज पक्षियों की तरह युद्ध में दौड़ते हैं। (6.46.14)

नवें मण्डल में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने पवमान सोम की प्रशंसा में अनेक ऋचायें कही हैं। एक ऋचा (9.96.20) में वे कहते हैंअलंकृत मनुष्य के समान अपने को शुद्ध करते हुए, धन के लिए वेगवान **अश्व** के समान चलने वाले, गायों के बीच वृषभ के समान शब्द करने वाले और पात्र में जाने वाले सोम, शब्द करते हुए चमू पात्र में बैठते हैं।

इसी सूक्त की पन्द्रहवीं ऋचा (9.96.15) में प्रतर्दन ने कहा हैसोम स्तोत्रों से शुद्ध किए जाते हैं, और गतिशील **अश्व** के समान शत्रुओं के पार जाते हैं। वे गाय के दूध के समान शुद्ध हैं। वे विस्तृत मार्ग के समान सबके आश्रय योग्य हैं। और वाहक अश्व के समान सोम स्तोत्रों के द्वारा नियन्त्रण में आते हैं।

दसवें मण्डल में मरुद्गण की स्तुति में भृगुगोत्रीय स्यूरश्मि ने कहा हैमरुद्गण **अश्वों** के समान तीव्र गतिवाले हैं। धनवान रथ स्वामियों के समान शोभन दान वाले हैं। नदियों के समान जल को नीचे की ओर ले जाने वाले हैं। वे अगिरागोत्रीय ऋषियों के समान सामगान करने वाले हैं। (9.78.5)।

चौथे मण्डल में पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु का कथन हैसुन्दर **अश्ववाले** और संग्राम के इच्छुक नेता हमारे ही पीछे चलते हैं।

## हाथी

ऋग्वेद में हाथी का उल्लेख कुछ ऋचाओं में हुआ है। चौथे मण्डल में ऋषि वामदेव, जो प्राचीन ऋषियों में हुए हैं, ने एक ऋचा (4.4.1) में अग्नि की स्तुति में कहा है

हे अग्नि, बहेलिया जिस प्रकार अपने जाल को फैलाता है, उसी प्रकार तुम अपने तेजःपुंज को विस्तारित करो। बलवान् राजा जिस प्रकार **हाथी** पर चढ़कर आता है, उसी प्रकार तुम भी तेज समूह के साथ गमन करो। तुम शीघ्र गामिनी सेना का अनुगमन करके शत्रु सेना को नष्ट करो। अपने तीक्ष्ण तेज द्वारा तुम राक्षसों का भेदन करो।

पहले मण्डल में मरुद्गण की स्तुति में कहा गया हैमरुद्गण, तुम लोग कर युक्त (सूँड़) **हाथी** की तरह वन का भक्षण करते हो। (1.64.7)।

वामदेव ने इन्द्र की प्रशंसा करते हुए कहाहे इन्द्र, तुम **हाथी** के समान शत्रुओं की सेना को विदीर्ण करते हो, और सिंह की तरह भयंकर हो। (4.16.14)

आठवें मण्डल (8.33.8) में कण्वगोत्रीय ऋषि प्रियमेध ने इन्द्र की प्रशंसा में कहा हैजैसे शत्रुओं की खोज करने वाला **हाथी** मद्जल धारण करता है, वैसे ही इन्द्र यज्ञ में मत्तता धारण करते हैं। इन्द्र, तुम्हें कोई वश में नहीं कर सकता। तुम सोमपान के लिए आओ। अपने महान और पराक्रमी बल के द्वारा तुम सर्वत्र विचरण करते हो।

## ऊँट

ऋग्वेद के पहले मण्डल की एक ऋचा (1.138.2) में पूषा की स्तुति में कहा गया हैहे पूषन, जैसे शीघ्रगामी अश्व की प्रशंसा की जाती है, वैसे ही मन्त्रों द्वारा मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ। तुम हमें **ऊँट** की तरह युद्ध के पार पहुँचाते हो। तुम सुख देने वाले देवता हो और मैं मनुष्य हूँ। युद्ध में मुझे विजयी बनाओ।

आठवें मण्डल की एक ऋचा (8.5.37) में अश्विद्वय की स्तुति में कण्व गोत्रीय ऋषि ब्रह्मातिथि ने कहा हैहे अश्विद्वय, तुम मुझे देने के लिए भोग योग्य

धन दो। चेदिवंशीय कशु नामक राजा ने जैसे सौ **ऊँट** और दस सहस्र गायें मुझे दी थीं, सो सब तुम जानो।

ऋषि वत्स ने परशु नामक राजा के पुत्र तिरिन्दर की दानशीलता का बखान करते हुए कहा हैतिरिन्दर राजा ने उन्नति को प्राप्त होकर चार स्वर्णभारों सहित **ऊँट** दिया। (8.6.48)

कनीत के पुत्र पृथुश्रवसः के दान का वर्णन करते हुए ऋषि वशोशव्य ने कहामैंने साठ सहस्र और अयुत (दश सहस्र) अश्वों और बीस सौ **ऊँटों को पाया है। (8.46.22)**

इसी सूक्त की एक अन्य ऋचा (8.46.31) में कहा गयाजिस समय **ऊँट** वन को भेजे जा रहे थे, उस समय एक सौ ऊँट हमें दिए गए थे। उस समय मुझे बीस सौ श्वेत वर्ण गायें भी दी गई थीं।

## सिंह

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मरुद्गण की स्तुति में कहा गया हैउच्च ज्ञान सम्पन्न गरुद्गण **सिंह** की भाँति गर्जन करते हैं। सर्वत्र गरुद्गण हिरण की तरह सुन्दर हैं। मरुद्गण शत्रु का नाश करने वाले हैं, स्तोता के प्रति प्रीति रखने वाले, और क्रोधित होने पर नाश करने वाले बल से सम्पन्न हैं। पीड़ित यजमान की रक्षा के लिए मरुद्गण अपने वाहन मृग और आयुध के साथ शीघ्र आते हैं। (1.64.8)

तीसरे मण्डल की एक ऋचा (3.26.5) में विश्वामित्र ने मरुतों की प्रशंसा में कहावर्षा रूप धारण करने वाले, हिनहिनाने वाले, और **सिंह** के समान गर्जन करने वाले मरुद्गण विशेष रूप से जल देने वाले हैं।

अग्नि की स्तुति करते हुए अंगिरा ऋषि के पुत्र धरुण ने पाँचवें मण्डल की एक ऋचा (5.15.3) में कहा हैनवजात अग्नि क्रुद्ध **सिंह** की तरह शत्रुओं को दूर भगावें।

ऋषि पौर ने पाँचवें मण्डल (5.74.4) में अश्विद्वय की स्तुति करते हुए कहाहे अश्विद्वय, पौर तुम्हारी स्तुति करता है। तुम दोनों जल बरसाने वाले मेघ को पौर के निकट आने के लिए प्रेरित करो। जंगल में व्याध जैसे **सिंह** को ताड़ित करते हैं, वैसे ही यज्ञ कर्म में व्याप्त पौर के निकट आने के लिए तुम दोनों मेघ को ताड़ित करो।

घोषा ने अश्विद्वय की स्तुति में दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.40.04) में कहा हैहे अश्विद्वय, जैसे व्याध **शार्दूल** की इच्छा करते हैं, वैसे ही यज्ञीय हव्य लेकर मैं तुम्हें दिन-रात बुलाती हूँ। हे उपदेशकद्वय, तुम दोनों के लिए यजमान होम किया करते हैं। तुम भी लोगों के लिए अन्न ले आते हो, क्योंकि तुम दोनों कल्याण करने वाले हो।

राजा असमाति हाथ में तलवार लें या न लें, पर युद्ध में अपने बलवीर्य से शत्रुओं को इस तरह मार गिराते हैं, जैसे **सिंह** भैंसों को मार गिराता है। (10.60.3)

## महिष (भैंसा)

ऋग्वेद में महिष का उल्लेख भी कई ऋचाओं में है। दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.60.3) में सिंह का भैंसों को मार गिराने का उल्लेख ऊपर सिंह के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.123.4) में ऋषि भार्गव वेन द्वारा वेन की प्रशंसा में कहा गया है किमेधावी स्तोताओं ने महिष के समान वेन के शब्दों को सुना। इसी से बुद्धिमानों ने उसके रूप की कल्पना की। उन लोगों को वेन की अर्चना से नदी के समान प्रचुर जल की प्राप्ति हुई, क्योंकि गन्धर्व रूपी वेन जल के स्वामी हैं।

ऋषि मरीचि के पुत्र कश्यप पवमान सोम की प्रशंसा में कहते हैंजैसे ऋत्विक् देवों के आह्वान के लिए यज्ञ गृह में जाते हैं, और जैसे सत्यकर्मा राजा युद्ध क्षेत्र में जाता है, वैसे ही पवमान सोम **महिष** के सदृश द्रोणकलश में जाते हैं। (9.92.6)

एक और ऋचा (9.87.7) में सोम के यशगान में महिष का उल्लेख हुआ हैअभिपुत सोम छोड़े हुए घोड़े के समान पवित्र कलश की ओर दौड़ते हैं। तेज सींगों वाले महिष और गौ प्राप्ति की अभिलाषा से शूर के समान सोम दौड़ते हैं।

कश्यप के पुत्र भृतांश ने दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.106.2) में अश्विद्वय की स्तुति में कहा हैगोचर भूमि की ओर जैसे दो बैल जाते हैं, अश्विद्वय, वैसे ही तुम दोनों यज्ञ-दान-समर्थ व्यक्ति के पास जाते हो। रथ में जोते दो वृषों या अश्वों के समान तुम दोनों धन दान के लिए स्तोता के पास जाते हो। जैसे दो **महिष** तालाब से नहीं हटते, वैसे ही तुम लोग भी सोमपान से नहीं हटना।

## वृक (भेड़िया)

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूक्त 127 में रात्रि का वर्णन है। इसके रचयिता ऋषि सोभरि के पुत्र कुशिक कहते हैं

हे रात्रि, तुम हिंसक **वृकों** को, **वृकी** को और चोर को हमसे दूर करो, जिससे रात्रि हमारे लिए सुखदायिनी हो। (10.127.6)

पुरुवा उर्वशी संवाद में पुरुवा का एक कथन है

यह सुदेव (पुरुवा) तुम्हारा प्रेमी, मैं आज ही गिर पड़ूँगा, और फिर कभी नहीं उठ पाऊँगा। बहुत दूर चला जाऊँगा, और फिर कभी नहीं लौटूँगा। आपदाओं की गोद में मर जाऊँगा और खूँखार **भेड़िये** मुझे खा जाएँगे। (10.95.14)

इसके उत्तर में उर्वशी कहती है

पुरुवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन ।  
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति साला वृकाणां हृदयान्येता॥ (10.95.15)

नहीं हे पुरुवो! तुम मत मरो, धरती पर मत गिरो, न अशिव भेड़िये तुम्हें खायें। स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियों का हृदय **सालावृको** (भेड़ियों) के हृदय की तरह होता है।

## हरिण

ऋग्वेद में हरिण का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है। पहले मण्डल में इन्द्र की स्तुति में कहा गया है इन्द्र, तुम हमारी स्तुति ग्रहण करने आओ। सोमरस तैयार है। प्यासे **हरिणों** की तरह उसे पीने के लिए आओ। (1.16.15)

पहले मण्डल के ही सूक्त 64 की आठवीं ऋचा में मरुद्गण की प्रशंसा में उन्हें सिंह की तरह गर्जना करने वाला और **हरिण** की तरह सुन्दर कहा गया है।

ऋषि वामदेव ने इन्द्र की प्रशंसा में कहा इन्द्र ने मेघ को विदीर्ण कर जल समूह को प्रवाहित किया था, इसलिये यज्ञकर्ता यजमान इन्द्र को अन्नदान करते हैं, तब वे **गौर मृग** और **गवय मृग** प्राप्त करते हैं। (4.21.8)

ऋषि अत्रि के पुत्र सप्तवध्रि अश्विद्वय की स्तुति में कहते हैं अश्विद्वय, जैसे **हरिण** और **गौर मृग** घास के पास आते हैं, और जैसे हंसद्वय निर्मल जल की ओर आते हैं, उसी प्रकार तुम दोनों छाने हुए सोमरस के प्रति आगमन करो। (5.78.2)

सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि ने अश्विद्वय की स्तुति करते हुए कहा अश्विद्वय **मृगी** के सदृश दीप्यमान सोम के पान की इच्छा करके आज हमारे सवनों में आओ। (7.69.6)

दसवें मण्डल के पुरुवो-उर्वशी संवाद की एक ऋचा (10.95.8) में कहा गया जिस समय पुरुवो अप्सराओं के पास गया, उस समय अप्सरायें इस तरह भाग गईं, जैसे **हिरनी** व्याध से दूर भागती है।

पहले मण्डल के सूक्त 191 (4) में कहा गया है जिस समय गौवें गोशाला में बैठती है, जिस समय **हरिण** अपने-अपने स्थान में विश्राम करते हैं, और जिस समय मनुष्य निद्रा के वशीभूत होता है, उस समय अदृष्ट विषधर आकर मुझसे लिपट जाते हैं।

पहले मण्डल में ही एक और ऋचा (1.105.7) में है जैसे प्यासे हरिण को व्याघ्र खा जाता है, वैसे ही दुःख मुझे खा रहा है। धावा-पृथिवी, मेरे इस कष्ट को जानो।

## भेड़, बकरी

ऋग्वेदिक समाज के पालतू पशुओं में भेड़ें और बकरियाँ भी थीं। इनका उल्लेख ऋग्वेद की कई ऋचाओं में हुआ है। आठवें मण्डल की एक ऋचा (8.59.15) में पुरुहन्मा ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की जिस प्रकार **बकरी** का स्वामी पानी पिलाने के लिए बकरी को कान से पकड़कर ले आता है, वैसे ही इन्द्र युद्ध में जीती हुई गायों और बछड़ों को कान से पकड़कर हमारे पास लायें।

दसवें मण्डल में ऋषि यम के पुत्र संकुसुक ने मातृ-स्वरूपिणी पृथिवी के लिए कहा है हे मृत व्यक्ति, तुम इस विस्तीर्ण, माता के समान सुखदायिनी पृथिवी के पास जाओ। यह युवती स्त्री के समान और **भेड़** के बालों के समूह के समान कोमल स्पर्शी है। (10.18.10)

ऋषि मान्धाता ने इन्द्र की स्तुति में कहा है हे ज्ञानवान (मन्तुमः) और ऐश्वर्यवान इन्द्र, विशाल अंकुश के समान तुम 'शक्ति' नामक अस्त्र को धारण करते हो। जिस प्रकार **बकरा** अपने अगले पैरों से पौधे की टहनी को अपनी ओर खींचता है, वैसे ही तुम उस 'शक्ति' के द्वारा शत्रु को खींच कर गिराते हो। (10.134.6)

दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त (10.90) में कहा गया है कि उसी से गौवें पैदा हुई, **बकरियाँ** और **भेड़ें** पैदा हुई। (10)

## कुत्ता

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौदहवें सूक्त में यम का वर्णन किया गया है। यम के पास सदैव सजग रहने वाले दो चितकबरे कुत्तों का उल्लेख है। ये कुत्ते देवलोक की कुतिया सरमा के पुत्र हैं। मृत व्यक्ति को इनसे सावधान रहने को कहा गया है।

इस सूक्त (10.14.10) के ऋषि वैवस्वत यम इसकी एक ऋचा में कहते हैं हे मृतपिता, तुम सरमा कुतिया के पुत्र चार आँखों वाले चितकबरे दो **कुत्तों** को पार करके उत्तम मार्ग के द्वारा पितरों के समीप जाओ।

हे यम, तुम्हारे गृह के रक्षक चार आँखों वाले जो दो कुत्ते हैं, उनसे इस मृत व्यक्ति की रक्षा करो। (10.14.11)

लम्बी नाक वाले, दूसरों के प्राण लेकर तृप्त होने वाले, मनुष्यों की खोज में विचरण करने वाले और अत्यन्त बलशाली जो दो यमदूत **कुत्ते** हैं, वे आज यहाँ हमें सूर्य के दर्शन के लिए कल्याणकारी प्राण दें। (10.14.12)

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का एक पूरा सूक्त (108) पणि और सरमा **कुतिया** के संवाद के रूप में है। इन्द्र ने धनवान पणि बृबु के यहाँ अपनी कुतिया सरमा को दूती के रूप में भेजा था।

## साँप, बिच्छू

ऋग्वेद में देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे विषैले सर्पों से उन्हें दूर रखें। पहले मण्डल के सूक्त 191 में विषधर (साँप, बिच्छू) पर ऋचामें कहीं गई हैं। इसी सूक्त में कुछ ऋचाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें विष के प्रभाव को नष्ट करने वाली औषधियों का उल्लेख है।

सूक्त 191 की पाँचवी ऋचा में कहा गया हैजिस प्रकार चोर रात में निकलते हैं और लोगों की निगाह से छिपे रहते हैं, पर स्वयं सबको देख रहे होते हैं, उसी प्रकार **विषधर** सबकी निगाहों से छिपे रहकर सबको देखते रहते हैं। सब लोग विषधरों (सर्पों) से सावधान रहें।

इसी सूक्त की सातवीं ऋचा में हैहे दृष्टिगोचर न होने वाले विषधारी जीवों, तुममें जो स्कंध वाले जन्तु हैं, जो अंग वाले हैं, जो सूची के समान पीड़ा देने वाले **बिच्छू** हैं, और जो अत्यन्त विषधारी जन्तु है, ऐसे विषधरों का यहाँ क्या काम, इसलिए हे विषधारी जन्तुओ, तुम लोग एक साथ यहाँ से चले जाओ। (1.191.7)

छठी ऋचा में कहा गया हैहे दृष्टिगोचर न होने वाले और सबको देखते रहने वाले सर्पों, तुम अपने स्थान को जाओ और उत्तम सुख से रहो।

यम ऋषि के पुत्र दमन ने अग्नि की स्तुति में मृत व्यक्ति को लेकर कहा हैमृत व्यक्ति, तुम्हारे शरीर के जिस भाग को काक ने नोचा है, अथवा चींटी, साँप या हिंस्र पशु ने व्यथा दी है, उसे सर्वभक्षक अग्नि व्यथा शून्य करे। (10.16.6)

पाँचवें मण्डल में अत्रि ऋषि के पुत्र गय ने अग्नि की स्तुति में कहाहे अग्नि, टेढ़ी चाल वाले **साँप** के **सँपोले** के समान तुम्हें पकड़ना कठिन है। (5.9.4)

ऋषि वसिष्ठ भी साँपों से आक्रान्त दिखते हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में वे विश्वेदेव से प्रार्थना करते हैं।

हे विश्वेदेव गण, छद्मगामी **सर्प** पद-ध्वनि द्वारा हमें जानने न पावे।

(7.50.3)

बिच्छू को लेकर पहले मण्डल में कहा गया हैपर्वत से प्रकट होने वाले छोटे नेवले ने कहाबिच्छू (वृश्चिक) का विष बेकार है। हे बिच्छू! तुम्हारा विष प्रभावहीन है। (1.191.16)

## कुषुम्भक (नेवला)

पहले मण्डल के सूक्त 191 की पन्द्रहवीं और सोलहवीं ऋचाओं में नेवले का नाम आता है। कहा गया हैहे देह! यह छोटा-सा **नेवला** यदि तुम्हें विष से मुक्त नहीं करता, तो मैं इसे पत्थर से मार डालूँगा। मेरे शरीर से विष दूर हो और दूर देश में चला जाए। (15)

## गोधा (गोह)

दसवें मण्डल में वसुक्र ऋषि ने इन्द्र की स्तुति में कहा है किइन्द्र की यदि इच्छा हो तो महिष के प्यासे होने पर उसके लिए गोधा (गोह) भी पानी ले आता है। (10.28.10)

## चूहा

दसवें मण्डल के सूक्त 33 में ऐलूष कवष ऋषि ने कहा हैहे इन्द्र, **चूहे** जैसे तांत को खाते हैं, उसी प्रकार मेरी मानसिक चिन्ताएँ मुझे खाए जा रही हैं। हे धनवान् इन्द्र, पिता के समान मेरी रक्षा करो। (10.33.3)

## मंडूक (मेढक) और मछली

जल में रहने वाले जन्तुओं में मेढक और मछली का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। यम ऋषि के पुत्र दमन पृथिवी से प्रार्थना करते हैं

हे पृथिवी, तुम शीतल हो। तुम पर शीतल वनस्पतियाँ हैं।

हे आह्लादक पृथिवी, तुम आह्लाद देने वाली हो। तुम ऐसी वर्षा ले आओ जिससे **मण्डूकियाँ** सन्तुष्ट हों। इस अग्नि को सन्तुष्ट करो। (10.16.14)

सातवें मण्डल में ऋषि वसिष्ठ ने वर्षा लाने के लिए पर्जन्य की स्तुति की है। साथ में दस ऋचाओं वाले सूक्त 103 में **मण्डूकों** की स्तुति भी की है। पहली ऋचा में वसिष्ठ ने कहा है

**मेढक** वर्ष भर तक सोये रहने के बाद, एक वर्ष का व्रत करने वाले स्तोता की तरह पर्जन्य (मेघ) के लिए प्रसन्नता कारक वाणी बोलते हैं। (7.103.1)

चौथी ऋचा में कहा गया हैपर्जन्य द्वारा वर्षा लाने पर दो जातियों के **मण्डूक** प्रसन्न होते हैं। भूरे रंग के मण्डूक लम्बी छलाँगें भरते हुए हरे वर्ण के मण्डूक के साथ मिलकर ध्वनि करते हैं।

**मेढकों** में किसी मेढक की ध्वनि गौ की तरह है और किसी की बकरे की तरह। कोई धूम्रवर्ण का है तो कोई हरे वर्ण का। इनके रूप नाना प्रकार के हैं। इनकी ध्वनि भी अनेक तरह की है।(6)

शिष्य गुरु की तरह **मेढक** एक दूसरे की ध्वनि का अनुकरण करते जल के ऊपर छलाँगें भरते हैं। (5)

इस सूक्त की अन्तिम ऋचा में हैगाय की भाँति बोलने वाले तथा बकरी की भाँति बोलने वाले भूरे रंग और हरे रंग के **मेढक** हमें धनधान्य से सम्पन्न करें। सहस्रों औषधियों को उगाने वाली वर्षा ऋतु में मेढक सैकड़ों गायों को प्रदान कर हमारी आयु में वृद्धि करें। (7.103.10)

ऋषि आंगिरस अयास्य ने बृहस्पति की स्तुति में दसवें मण्डल में कहा हैजैसे थोड़े पानी में **मछलियाँ** व्याकुल रहती हैं, वैसे ही बृहस्पति ने पर्वत के मध्य बँधी गायों को व्याकुल देखा। (10.68.8)

### मधुमक्खी

सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि ने इन्द्र की स्तुति करते हुए कहाहे इन्द्र, तुम्हारे लिए निचोड़े गए सोमरस के चारों ओर स्तोता इस तरह बैठते हैं, जैसे मधु पर **मधुमक्खियाँ** बैठती हैं। (7.32.2)

दसवें मण्डल के सूक्त 40 में अश्विद्वय की स्तुति में ऋषि घोषा ने कहाअश्विद्वय, तुम लोग रथ पर चढ़कर कुल्स के समान स्तोता के घर जाते हो। तुम्हारे अत्यधिक मधु को **मधुमक्खियाँ** अपने मुँह में भर लेती हैं। जिस प्रकार कोई स्त्री व्यभिचार में रत रहती है, वैसे ही मधुमक्खियाँ तुम्हारे मधु को ग्रहण करती हैं। (10.40.6)

दसवें मण्डल में ही ऋषि कश्यप के पुत्र भूतांश ने कहा हैहे अश्विद्वय, गुंजन करती हुई **मधुमक्खियाँ** जिस प्रकार छत्ते में शहद भरती हैं, वैसे ही तुम दोनों गाय के स्तन में मधु तुल्य दूध का संचार करो। (10.106.10)

### पक्षी

ऋग्वेद में जिन पक्षियों का उल्लेख है, उनमें बाज, हंस, शुक, सारिका, मयूर, शकुनी आदि आते हैं।

उषा की स्तुति में ऋषि भरद्वाज ने कहा

*उत्ते व यश्चिद्वसतेरपत्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ।  
अमा सते वहसि झरि वाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याया॥ (6.64.6)*

देवी उषा, तुम्हारे प्रकाशित होने पर **चिड़ियाँ घोंसलों** से बाहर आती हैं, और अन्नोपार्जन करने वाले लोग सोकर उठते हैं। हे उषा देवी, तुम हव्य दाता मनुष्य को बहुत धन लाकर देती हो।

आंगिरस अयास्य ने बृहस्पति की स्तुति में कहा है

*उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रिमस्येव घोषाः।  
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य अर्का अनावन्॥ (10.68.1)*

खेतों को जल से सींचने वाले किसान फसल के पक जाने पर उसकी रखवाली करते समय **पक्षियों** को उड़ाने के लिए जैसे शब्द करते हैं, या जैसे मेघ की गर्जन ध्वनि होती है, अथवा जैसे पर्वत से टकराकर वर्षा की तरंगें नाद करती हैं, वैसे ही बृहस्पति की स्तुति ध्वनि होने लगी।

नवें मण्डल में पवमान् सोम की प्रशंसा में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने कहाजैसे उड़ने वाला **पक्षी** वृक्षों पर बैठता है, वैसे ही शोधित सोम कलश में बैठते हैं। (9.96.23)

दसवें मण्डल में ऋषि सोभरि-पुत्र कुशिक ने रात्रि देवी की स्तुति में कहा

*सा नो अद्य यस्या वयं निते यामन्नविक्षमहि।  
वृक्षे न वसति वयः॥ (10.127.4)*

हमारे लिए सुखदायिनी रात्रि आ गई है। उसके पास आने पर हमें उसी तरह विश्राम मिलता है, जैसे **पक्षी** वृक्षों पर अपने घोंसलों में सो जाते हैं।

ऋषि भार्गव वेन, वेन की स्तुति में कहते हैं

*नाके सुवर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।  
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ (10.123.6)*

वेन, तुम स्वर्ग में उड़ने वाले पक्षी के समान हो। तुम्हारे सुनहरे पंख (हिरण्यपक्ष) हैं। तुम वरुण के दूत समस्त संसार के भरण पोषण करने वाले पक्षी के समान हो। सबके हृदय में तुम्हारे लिए प्रीति है।

दसवें मण्डल के सूक्त 33 में ऐलूष कवष ऋषि कहते हैं

*सं मां तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।  
न बाधते अमर्तिनग्नता जसुर्वेनं वे वीयते मतिः॥ (10.33.2)*

मेरी पसलियाँ सौत स्त्रियों के समान मुझे दुःख देती हैं। मैं दीन हीन और क्षीण हो रहा हूँ। जैसे **पक्षी** शिकारी को देखकर डरता है, वैसे ही मृत्यु का भय मुझे बेचैन करता है।

ऋषि कश्यप के पुत्र भूतांश ने कहाहे अश्विनी कुमारो, जैसे **पक्षी** के दो पंख आपस में मिले रहते हैं, वैसे ही तुम दोनों भी परस्पर मिले हुए हो। यज्ञ पुरोहित अग्नि के समान तुम लोग दीप्ति वाले हो। सर्वत्र विहारी दो पुरोहितों के समान तुम दोनों अनेक स्थानों में देवों की पूजा करते हो। (10.106.3)

दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने नवें मण्डल में कहा है

जैसे उड़ने वाला **पक्षी** वृक्षों पर बैठता है, वैसे ही शोधित सोम कलश में बैठते हैं। (9.96.23)

नवें मण्डल में ही ऋषि शुनःशेष कहते हैं

ये अमर सोम द्रोण कलश में बैठने के लिए **पक्षी** के समान जाते हैं। (9.3.1)

भृगु के पुत्र जमदग्नि ऋषि सोम के लिए कहते हैं

जैसे **पक्षी** अपने घोंसले में जाता है, उसी प्रकार स्तुतियों द्वारा प्रशंसित सोम इन्द्र के लिए, इस यज्ञ में अपने स्थान में स्थित होते हैं। (9.62.15)

दसवें मण्डल में वैरूपसध्रि ऋषि ने एक ऋचा (10.114.3) में पक्षी के रूपक को लेकर कहा हैदो पक्षी (यजमान और पुरोहित) उस पर (यज्ञ वेदी पर) बैठते हैं। वहाँ देवतागण अपना-अपना भाग पाते हैं।

इससे अगली ऋचा में भी ऋषि ने एक अन्य रूपक को लेकर कहाएक **पक्षी** (प्राण वायु) समुद्र (ब्रह्माण्ड) में पैठा। वह सारे संसार को देखता है। मैंने परिपक्व मन के द्वारा उसे देखा है, जाना है। (10.114.4)

पाँचवीं ऋचा में कहा गया **पक्षी** एक है, परन्तु दूरदर्शी विद्वान, ज्ञानी लोग उसकी कल्पना नाना प्रकार के रूपों में करते हैं। (10.114.5)

पहले मण्डल में भी पक्षी के रूपक से कहा गया है दो **पक्षी** (जीवात्मा और परमात्मा) मित्र बनकर एक वृक्ष (शरीर) में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) पीपल के सुस्वादु फलों को खाता है, और दूसरा केवल द्रष्टा है। (1.164.20)

पहले मण्डल में अश्विद्वय की स्तुति में कक्षीवान् ने कहाश्वेल राजा की स्त्री विशपला का एक पैर, युद्ध में, **पक्षी** के पंख की तरह कट गया था, हे अश्विद्वय, तुमने रातों-रात विशपला के लिए लौह पैर बनाकर दिया था। (1.115.16)

आठवें मण्डल के सूक्त 47 में आदित्य देवों की स्तुति में कहा गया हैहे आदित्यों, तुम लोग दुःख को दूर करना जानते हो। जैसे **चिड़ियाँ** अपने बच्चों पर पंख फैला कर उन्हें प्रश्रय और सुख देती हैं, वैसे ही तुम हमें सुख और रक्षा प्रदान करो। तुम्हारा रक्षण शोभन है। (8.47.2)

हे आदित्यों, **पक्षियों** के पंख के समान जो तुम्हारे पास सुख है, उस सुख को हमें दो। हे सभी धन के स्वामी आदित्य देवों, घर के उपयुक्त सभी धन हमें दो। (8.47.3)

## श्येन (बाज)

कुशिक ऋषि ने रात्रि की स्तुति में कहा

*नि ग्रामासो अविक्षत नि यद्वन्तो नि पक्षिणः।*

*निश्येनासश्चिदर्थिनः॥ (10.127.5)*

सभी ग्रामवासी अपने-अपने घरों में वापस आ गए हैं। पैरों वाले और पंखों वाले शिकारी **बाज** (श्येन) भी सब सो रहे हैं।

छठें मण्डल में कहा गया है कि **बाज** पक्षियों की तरह घोड़े युद्ध में दौड़ते हैं। (6.46.14)

सातवें मण्डल में वसिष्ठ ऋषि ने कहा हैहम ध्रुलोक (आकाश) के **बाज** पक्षी के समान शीघ्रगामी अग्नि को नवीन स्तोत्र समर्पित करते हैं। वे हमें बहुत धन दें। (7.15.14)

ऋषि वसिष्ठ ने सातवें मण्डल (7.56.3) में मरुतों की प्रशंसा में कहा हैमरुत घूमते हुए परस्पर मिलते हैं। वायु के समान तेज उड़ने वाले **बाज** पक्षी की भाँति ये आपस में स्पर्द्धा करते हैं।

भृगु के पुत्र जमदग्नि कहते हैंजैसे **श्येन** पक्षी शब्द करते हुए अपने घोंसले में आता है, वैसे ही क्षरणशील सोम शब्द करते हुए द्रोण कलश में आते हैं। (9.65.19)

इसी मण्डल के सूक्त (67.14) में कहा गया हैअभिषुत सोम उसी प्रकार शब्द करते हुए द्रोण कलश की ओर जाते हैं, जैसे **श्येन** पक्षी शब्द करता हुआ अपने घोंसले में जाता है।

इन्द्र की स्तुति में कण्व-गोत्रीय ऋषि नीपातिथि कहते हैं

हे इन्द्र, जैसे **श्येन** पक्षी अपने दोनों पंखों को ढोता है, उसी प्रकार मद टपकाने वाले तुम्हारे दोनों घोड़े तुम्हें वहन करें। इन्द्र, तुम ध्रुलोक का शासन करते हो, तुम ध्रुलोक में जाओ। (8.34.9)

## मयूर

इन्द्र की स्तुति में विश्वामित्र ने तीसरे मण्डल में कहा है

हे इन्द्र, मादक और **मयूर** के रोमों (मयूर पंख) के समान रोमों (पूँछों) से युक्त घोड़ों के साथ तुम इस यज्ञ में आओ। जैसे बहेलिया उड़ते पक्षी को फाँस लेता है, उस प्रकार का कोई प्रतिबंधक तुम्हारे मार्ग में न हो। जैसे मरुभूमि को पथिक पार करते हैं, वैसे ही तुम भी सभी बाधाओं को पार कर हमारे यज्ञ में शीघ्र आओ। (3.45.1)

आठवें मण्डल की एक ऋचा (8.1.25) में कहा गया हैमयूर वर्ण और श्वेत पृष्ठ वाले अश्व स्तुति के योग्य सोम को पीने के लिए हिरण्मय रथ में इन्द्र को ले जाएँ।

## कोकिल (कोयल)

दसवें मण्डल की एक ऋचा (810.86.7) में इन्द्र का पुत्र वृषाकपि माता इन्द्राणी से कहता हैमाता, तुमने सुन्दर लाभ प्रदान किया है। तुम्हारे अंग आवश्यकतानुसार हो जाएँगे। तुम कोकिल पक्षी के समान प्रिय वचन बोल कर पिता को प्रसन्न करो। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।

## चक्रवाक (चकवा)

दूसरे मण्डल में अश्विद्वय की स्तुति में चकवा चकवी का उल्लेख हुआ है

हे अश्विद्वय, तुम पशुओं में सींगों के समान देवों में प्रथम हो, तुम अश्व आदि के खुरों के समान वेग से चलते हुए हमारे सामने आओ। हे शत्रुहन्ता और अपने

कार्य में समर्थ अश्विद्वय, जैसे दिन में **चक्रवाक** के जोड़े आते हैं, अथवा जैसे दो रथी आते हैं, वैसे ही तुम हमारे सम्मुख आओ। (2.39.3)

### गृध्र (गिद्ध)

ऋषि भर्गव वेन, वेन की प्रशंसा में कहते हैं

जलयुक्त वेन अपना कर्म करते हुए **गृध्र** के समान, दूर तक देखते हुए अन्तरिक्ष में जाते हैं। वे आकाश के ऊपरी भाग से सबके प्रिय जल की सृष्टि करते हैं। (10.123.8)

### काक (कौवा)

दसवें मण्डल की एक ऋचा (10.16.6) में साँप और चींटी के साथ **काक** का भी नाम लिया गया है, जिनसे मृत व्यक्ति के शरीर को क्षति पहुँचाने और उसे नोचने से बचाने की प्रार्थना अग्नि से की गई है।

### इक्कीस प्रकार की छोटी चिड़ियाँ

ऋग्वेद के पहले मण्डल की एक ऋचा (1.191.12) में इक्कीस प्रकार की छोटी चिड़ियों का उल्लेख है

जो इक्कीस प्रकार की छोटी **चिड़ियाँ** (त्रि-सप्त विष्णु-लिंगकाः) विष का नाश करती हैं, जब वे नहीं मरतीं तो हम भी नहीं मरेंगे। सूर्य विष का नाश करते हैं। सूर्य की मधुविद्या विष को अमृत बना देती है।

### इक्कीस मयूरियाँ

पहले मण्डल में ही एक और ऋचा में कहा गया है

हे देह, जिस प्रकार क्यारिनें जल भर कर ले जाती हैं, उसी प्रकार **इक्कीस मयूरियाँ** (त्रि-सप्त मयूर्यः) और सात नदियाँ तुम्हारा विष दूर करें। (1.191.14)

### शुक और सारिका

पहले मण्डल में शुक (तोता) और सारिका (मैना) का उल्लेख हुआ है। ऋचा (1.50.12) में कहा गया है

मैं अपने हरिमाण रोग (पीलिया) को **शुक और सारिका** पक्षियों पर न्यस्त करता हूँ। मैं अपना हरिमाण रोग हरे रंग वाली वनस्पतियों में स्थापित करता हूँ।

कण्वगोत्रीय श्यावश्व ऋषि ने आठवें मण्डल (8.35.7) में कहा है अश्विनौ, जैसे दो **हारिद्रव पक्षी** (शुक?) जल पर गिरते हैं, वैसे ही तुम लोग सोमरस पर गिरो। उषा और सूर्य के साथ मिलकर तीनों सवनों में आओ।

### हंस

अश्विद्वय की स्तुति में कहा गया है अश्विद्वय, दो हंस और पथिक जिस प्रकार जल की ओर आते हैं वैसे ही तुम लोग अभिपुत सोम की ओर आओ। दो भैंसे जैसे जल की ओर आते हैं, उषा और सूर्य के साथ मिलकर तुम लोग त्रिमार्ग में गमन करो। (8.35.8)

पाँचवें मण्डल की एक ऋचा में है अश्विद्वय, तुम दोनों छाने गए सोम के पान के लिए वैसे ही आओ जैसे हंस द्वय निर्मल जल की ओर आते हैं। (5.78.2)

नवें मण्डल में ऋषि आत्रेय श्यावश्व ने कहा हंस जैसे जल में प्रवेश करता है, वैसे ही सोम स्तोताओं के मन में प्रवेश करते हैं। (9.32.3)

इसी तरह दसवें मण्डल में आंगिरस अयास्य ऋषि ने कहा हंसों के समान ही बृहस्पति के सहायकों ने कोलाहल करना आरम्भ किया। बृहस्पति ने उनकी सहायता से पणियों द्वारा चुराई गई गायों का प्रस्तरमय द्वार खोल दिया। (10.67.3)

सातवें मण्डल में मरुद्गण की स्तुति में वशिष्ठ ऋषि ने कहा अपने अन्दर छिपे हुए मरुतों, अलंकारों से अपने अंगों को सुसज्जित करके नीलवर्ण हंसों की तरह आओ। मेरे यज्ञ में प्रमुदित और दर्शनीय मनुष्यों की तरह विश्वभर में व्याप्त मरुद्गण मेरे चारों ओर बैठें। (7.59.7)

### कपिंजल (शकुनि)

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के दो सूक्त (42, 43) कपिंजल पक्षी को लेकर कहे गए हैं। इन सूक्तों के देवता कपिंजल रूपी इन्द्र हैं। इससे यह द्योतित होता है कि शकुनि ऋग्वेदिक ऋषियों का प्रिय पक्षी रहा होगा।

दूसरे मण्डल के बयालीसवें सूक्त में कुल तीन ऋचाएँ हैं, जो कपिंजल को लेकर हैं। पहली ऋचा में है

भविष्यवक्ता कपिंजल वाणी को उसी प्रकार प्रेरित करता है, जैसे मल्लाह नौका को परिचालित करता है। हे **शकुनि**, तुम कल्याण सूचक बनो। किसी भी दिशा से पराजय तुम्हारे पास न आवे। (1)

**शकुनि**, तुम्हें बाज पक्षी और गरुड़ पक्षी न मारें दक्षिण दिशा में बार-बार प्रीतिकर, मंगलकारक शब्द बोलते हुए तुम हमारे लिए प्रीतिकर बनो। (2)

**शकुनि**, तुम हमारे घर की दक्षिण दिशा में सुमंग सूचक और प्रिय शब्द बोलो, जिससे चोर और दुष्ट व्यक्ति हम पर अधिकार न कर सकें। पुत्र पौत्र वाले होकर हम इस यज्ञ में अधिक स्तुतियाँ बोलें। (3)

सूक्त 43 में भी कुल तीन ऋचाएँ हैं। तीनों ऋचाओं में कपिंजल को लेकर कहा गया है। पहली ऋचा में है जैसे सामगायक गायत्री और त्रिष्टुप छन्दों का

उच्चारण करते हैं, वैसे ही **कपिंजल** भी दोनों प्रकार का उच्चारण करके श्रोताओं को प्रसन्न करता है। (1)

हे **शकुनि**, जैसे उद्गाता सामगान करते हैं, वैसे ही तुम भी गाओ। यज्ञ में ब्रह्मपुत्र ऋत्विक् जिस प्रकार शब्द उच्चरित करता है, वैसे ही तुम भी बोलो। शकुनि तुम सर्वत्र हमारे लिए सुमंगलकारी बोल बोलो। (2)

शकुनि, शब्द बोलते हुए तुम हमारे लिए मंगल-सूचना देते हो। जिस समय तुम चुप रहकर बैठते हो, उस समय हमारे प्रति तुम्हारी प्रसन्नता व्यक्त होती है। उड़ते हुए तुम कर्करि बाजा की तरह शब्द करते हो। हम पुत्र पौत्र सहित इस यज्ञ में प्रभूत स्तुति करें। (3)

पहले मण्डल के सूक्त 191 की एक ऋचा (11) में भी कपिंजली चिड़िया का उल्लेख है। कहा गया है **कपिंजली** चिड़िया ने तुम्हारा विष खा लिया और उगल दिया। वह शकुनि चिड़िया नहीं मरी, उसी प्रकार हम भी नहीं मरेंगे। सूर्य दूर से ही विष को नष्ट करके उसे अमृत बना देते हैं।

यहाँ हमने ऋग्वेद की ऋचाओं में उल्लिखित जिन वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं का वर्णन किया है, वे सभी भारत के विभिन्न भागों में अनन्त काल से विद्यमान हैं। ऋग्वेदिक ऋषियों का इन पदार्थों और जीवों से दैनंदिन सम्बन्ध भी इन ऋचाओं से प्रकट होता है।

ऋग्वेद उत्कृष्टतम काव्य ग्रन्थ भी है, और काव्य में कवि का माहौल, नदी, पर्वत, वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु, उसकी संस्कृति तथा अतीत के प्रति उसका सम्मोहन जाने अनजाने प्रविष्ट हो जाते हैं। ऋग्वेद में भारत के बाहर के माहौल का कोई संकेत दिखाई नहीं देता। जबकि भारतीय भूमि से आर्यों का सनातन सम्बन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है। यहाँ की धरती को माता कह कर इन ऋषियों ने वन्दना की है।

## बहुसंस्कृतिवाद का कपट

शंकर शरण\*

*शिष्यकुछ लोगों को 'वन्दे मातरम्' के राष्ट्रीय गान होने में आपत्ति है और कुछ कांग्रेसी उसके कुछ पदों को निकाल देने के पक्ष में हैं।*

*श्री अरविन्दजस स्थिति में हिन्दुओं को अपनी संस्कृति छोड़ देना चाहिए।*

*शिष्यतर्क यह है कि इस गान में दुर्गा आदि हिन्दू देवी-देवताओं की बात कही गई है जो मुसलमानों के लिए अप्रिय है।*

*श्री अरविन्दलेकिन यह धार्मिक गान नहीं है। यह एक राष्ट्रीय गान है और...राष्ट्रीयता के भारतीय स्वरूप में स्वभावतः हिन्दू दृष्टि रहेगी। अगर इसे यहाँ स्थान न मिल सके तो हिन्दुओं से कहा जा सकता है कि वे अपनी संस्कृति छोड़ दें।...हिन्दू अपने भगवान की पूजा क्यों न करें? अन्यथा हिन्दुओं को या तो इस्लाम स्वीकार कर लेना चाहिए या यूरोपीय संस्कृति या फिर नास्तिक बन जाना चाहिए।*

(30 दिसम्बर 1939, सांध्य वार्ताएँ)

### 1

कोई डेढ़ वर्ष पहले की बात है। दिल्ली की किसी ऊँची जगह में शायरी की एक पुस्तक छपने के अवसर पर पार्टी चल रही थी। शायर के एक भाई भी मौजूद थे, जो स्वयं प्रसिद्ध शायर और एक बड़ी फिल्मी हस्ती हैं। उनके आस-पास संस्कृतिकर्मी, बौद्धिक किस्म के महानुभावों का जमावड़ा था। इन महानुभावों में अधिकांश हिन्दू थे। जैसा प्रायः होता है, जब कोई मुस्लिम हस्ती सामने हो, तो अनेक हिन्दू बुद्धिजीवी खाम-खाह अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग करते हुए झुक-झुक कर अपने सेक्यूलर, प्रगतिशील होने का प्रमाण दे रहे थे।

चूँकि अवसर शायरी का था, तो बात उर्दू की स्थिति पर चल निकली। प्रसिद्ध मुस्लिम शायर ने कहा कि भारत में उर्दू की हालत बड़ी खराब हो गई है। एक जमाना था कि यहाँ उर्दू का रुतबा था। पढ़े-लिखे होने का मतलब ही था कि आदमी फारसीदाँ नहीं तो उर्दूदाँ तो है ही। इतना सुनना था कि उनकी हाँ में हाँ मिलाने की होड़ लग गई। 'हाय', 'अफसोस' जैसे शब्दों और उस अतीत के गुण गाने का

\* डॉ. शंकर शरण, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक हैं।



सिलसिला शुरू हो गया जब लखनऊ, इलाहाबाद और दिल्ली में उर्दू का दौर-दौरा था। यह सब सुनकर शायर ने बड़ी शिकायती मुद्रा में उपस्थित समाज को सम्बोधित करते हुए कहा, “आप लोगों ने तो उर्दू को छोड़ ही दिया!”

वहीं निकट खड़े एक हिन्दी कवि-लेखक भी यह सब सुन रहे थे। अब उनसे रहा न गया। वह बोले, “हाँ हमने उर्दू को छोड़ दिया। क्योंकि पहले आपने भोजपुरी छोड़ दी, मगही छोड़ दी, ब्रज छोड़ दी, कजरी, चैता, फाग-होली छोड़ दी। आपने वह सब छोड़ दिया जो उस धरती की पहचान है, जिससे आप पैदा हुए हैं। तब हम दूर अरब की लिपि या फारसी लफ्जों के लिए किसलिए खामखाह फिक्रमन्द हों?” यह सुनकर शायर महोदय का चेहरा लाल हो गया। आस-पास खड़े लोग झेंप गए। किसी को कोई उत्तर न सूझा। संयोगवश यह हिन्दी कवि लेखक भारत सरकार में ऊँचे अफसर भी थे, इसलिए उन्हें झिड़का भी न जा सकता था कि ऐसी अनुपयुक्त, राजनीतिक रूप से असंगत (पोलिटिकली इन्करेक्ट) बातें वह कैसे बोल रहा है! हिन्दी लेखक व अफसर इतने पर ही चुप नहीं हुए। शायर को सम्बोधित करते हुए उन्होंने खुली चुनौती दी, “आप तो मूलतः फैजाबाद इलाके के हैं। क्या आपको अवधी आती है?” शायर चुप थे, उन्हें काटो तो खून नहीं। ऐसी मजलिसों में उन्हें केवल प्रशंसा और चापलूसी सुनने की आदत थी। ऐसे असुविधाजनक प्रश्नों के लिए वे बिल्कुल तैयार न थे।

तब किसी ने नरमी से हस्तक्षेप किया, “लेकिन उर्दू तो केवल मुसलमानों की भाषा न थी। यह तो भारत की गंगा-जमुनी तहजीब की मिसाल थी। आज भारत में इसे मुसलमानों की भाषा माना जाता है। क्या यह दुःख की बात नहीं?” हिन्दी लेखक ने छूटते ही कहा, “इसे और किसी ने नहीं, खुद मुसलमानों ने मुसलमानों की भाषा बना डाला है। वरना मेहरबानी कर के बताएँजम्मू-कश्मीर की राजभाषा उर्दू क्यों बनाई गई, जब कि वहाँ के लोग कश्मीरी, डोगरी और भोट भाषाएँ बोलते रहे हैं? निजाम के समय में हैदराबाद राज्य की राजभाषा उर्दू क्यों थी, जबकि वहाँ के मुसलमान भी तेलुगु ही बोलते थे? और पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू क्यों बनी जब कि वहाँ तमाम लोगों की भाषाएँ पंजाबी, सिंधी या पश्तो रही थीं?”

कहना न होगा कि उस मजलिस में उस हिन्दी लेखक के सभी प्रश्न अनुत्तरित रहे। यह प्रसंग भी उसी रोग का एक उदाहरण है जिसमें ‘बहुसंस्कृतिवाद’, ‘कम्पोजिट कल्चर’ या ‘गंगा-जमुनी संस्कृति’ जैसे फिकरे उछाले जाते हैं। किन्तु वास्तव में उस की आड़ में हिन्दुओं से अपने सनातन धर्म व संस्कृति के प्रत्येक तत्त्व को छोड़ने की माँग की जाती है। इसके लिए यही जिद्दी तर्क दिया जाता है कि भारत की संस्कृति सनातन या भारतीय नहीं, वरन् तथाकथित ‘मिली-जुली’ संस्कृति है। बल्कि यदि कोई हिन्दू संस्कृति की बात करता है, तो यह खुला संकेत किया जाता है कि वह हिन्दू साम्प्रदायिक ही हो सकता है जिसकी केवल भर्त्सना ही होनी

चाहिए। पिछले चार-पाँच दशक से नेहरूवादी-मार्क्सवादी बौद्धिकता यह स्थापित करने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाए हैं। सत्ता का दबाव, सेंसरशिप, अकादमिक संस्थाओं का राजनीतिकरण, इतिहास की लीपा-पोती, स्वतन्त्र बुद्धि के लेखकों, विद्वानों पर लांछन तथा दुष्प्रचार। मुस्लिम वोटों के लिए राजनीतिक दलों की चापलूसी प्रतिद्वन्द्विता ने भी वही प्रचारित किया। अन्ततः निरन्तर प्रचार से अब यह बौद्धिक-राजनीतिक प्रवृत्ति ऐसी जम गई है कि कभी खुली चर्चा तक नहीं होती, कि इस पूरे मामले में सदैव एकतरफापन क्यों रहा है?

इसका एक बड़ा कारण तो यह है कि दुर्भाग्य से स्वतन्त्र भारत में शुरू से ही शैक्षिक-बौद्धिक क्षेत्र में मार्क्सवादी वर्चस्व स्थापित हो गया। क्योंकि प्रथम प्रधान मन्त्री मार्क्सवादी विचारधारा और कम्युनिस्ट देशों से गहरे प्रभावित थे। साथ-ही-साथ वह इस्लाम से लगाव और हिन्दू भाव से वितृष्णा रखते थे। इस दुर्योग ने यहाँ इतिहास लेखन और राजनीतिक विमर्श पर वामपंथी दबदबा और हिन्दू विरोधी प्रवृत्ति को स्थापित करने में बड़ी मदद दी। इसके कितने घातक परिणाम हुए और हो रहे हैं, इससे कम ही लोग परिचित हैं।

उदाहरण के लिए भारत में इतिहास लेखन और कुल मिलाकर सामाजिक विज्ञान पूरी तरह पंगु हो गया है। वह लेखन कम और लीपापोती या राजनीतिक प्रचार अधिक है। उन्हीं लीपा-पोती और प्रचारों में एक यह है कि दुनिया की एक सबसे प्राचीन सभ्यता भारत की अपनी कोई संस्कृति नहीं है! इस प्रचार में कहा यह जाता है कि भारत की संस्कृति अनेक बाहरी ‘आगतुक’ संस्कृतियों के मेल से बनी मिश्रित संस्कृति या ‘कम्पोजिट कल्चर’ है। इस मुहावरे की आड़ में भारतीय सभ्यता के सबसे मूल्यवान तत्त्वों को ठुकरा या पर्दे से ढँक दिया जाता है।

हमारे प्रभावशाली वामपंथी बुद्धिजीवियों के लेख, भाषण, पुस्तकें आदि पढ़-सुनकर यही लगता है मानो भारत का इतिहास सोलहवीं शती से ही आरम्भ होता है। उससे पहले जो भी था वह ‘बढ़ाई-चढ़ाई’ बातें हैं। उनकी बातों का सार-संक्षेप यह है कि भारत में सबसे गौरवशाली शासक अकबर हुआ। यहाँ भाषा-साहित्य का मतलब उर्दू-शायरी, वैसा भक्ति साहित्य जो किसी न किसी तरह एकेश्वरवाद को श्रेष्ठ बताता हो, यानी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस्लाम को वरिष्ठता या मान्यता देता हो, संगीत का मतलब सूफी-सिलसिला, खान-पान का मतलब मुगलई, स्थापत्य के माने ताजमहल, और राजनीति का आदर्श जवाहरलाल नेहरू वाला सेक्यूलरिज्म। यदि कोई इससे परे भारत की किसी सांस्कृतिक विरासत या राष्ट्रीय पहचान की बात करे, तो वह मात्र ‘हिन्दू साम्प्रदायिकता’ का फितूर है! अब यह कम्पोजिट कल्चर या बहुसंस्कृतिवाद है या बौद्धिक छल, पाठक स्वयं तय करें।

पर यह छल निरन्तर होता रहता है। आखिर भारत के मुस्लिम बुद्धिजीवियों और उनके वामपंथी पैरोकारों की संस्कृति सम्बन्धी सभी हसरतें उर्दू या सातवीं सदी

के बाद से ही क्यों जुड़ती हैं? कम लोगों ने ध्यान दिया है कि इस्लाम-पूर्व भारत के सम्बन्ध में किसी भी विषय पर कोई मुस्लिम विद्वान नहीं मिलता! प्राचीन भारत की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, गणित, विज्ञान, स्थापत्य आदि अत्यन्त रोचक विषय हैं। सभ्यता-ज्ञान के अगाध भण्डार भी। तब इन विषयों का अध्ययन करने वाले मुस्लिम अध्येता क्यों नहीं होते? अभी हमारे देश में इतिहासकारों में एक प्रमुख गुट 'अलीगढ़ स्कूल' ही कहलाता है। लेकिन क्या यह संयोग मात्र है कि उनमें से कोई भी प्राचीन भारत, संस्कृत या पाली साहित्य, बौद्ध दर्शन, योग चिन्तन, मन्दिरों, भित्ति-चित्रों या पौराणिक आख्यानों का जानकार नहीं? सब के सब केवल मुगल काल, दिल्ली सल्तनत या अरबी इतिहास में ही दिलचस्पी रखते हैं। यह कोई गोपनीय तथ्य नहीं है कि उन सबके लिए भारत का इतिहास, बल्कि अस्तित्व ही तब से आरम्भ होता है जब इस्लाम का 'आगमन' हुआ। मुस्लिम विद्वानों में इस्लाम-पूर्व इतिहास, संस्कृति का ज्ञान न मिलना इसी मानसिकता की व्युत्पत्ति है।

सच तो यह है कि अयोध्या-विवाद की पूरी समस्या खड़ी ही इसीलिए हो सकी क्योंकि भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक प्रतिनिधि, सार्वभौमिक कालजयी प्रतीकोंराम, कृष्ण, शिव, रामायण, महाभारत, अयोध्या, मथुरा, काशी आदि से मुस्लिम समुदाय की आमतौर पर कोई सहानुभूति नहीं है। यानी उन प्रतीकों से जो कश्मीर से कन्याकुमारी और कामाख्या से द्वारिका तक भारत को एक विशिष्ट सूत्र से जोड़ती हैं। इनसे मुस्लिम समुदाय की, बल्कि उनके नेताओं, बुद्धिजीवियों की दिलचस्पी मात्र इसीलिए नहीं है क्योंकि उन्हें इस्लाम पूर्व भारत से कोई लेना-देना ही नहीं! क्योंकि वह सब तो इस्लाम के अनुसार जाहिली का समय 'जाहीलिया' है। ऐसे इस्लामी विश्वास के चलते ही इस्लामी नेता अयोध्या-काशी-मथुरा जैसी परम्पराओं से अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते।

और यही बात हिन्दुओं पर भी थोपने के लिए 'कम्पोजिट कल्चर', बहुसंस्कृति या मिली-जुली संस्कृति की रट लगाई जाती है! ताकि हिन्दू लेखक, विद्वान यदि प्राचीन भारत के इतिहास, संस्कृति, मनीषा आदि का अध्ययन करें भी तो उसके प्रति किसी गौरव की भावना न रखें। बल्कि किसी भी विषय में सकारात्मक भाव से 'हिन्दू' संज्ञा, विशेषण आदि के प्रयोग से भी बचे! इस प्रकार स्वतन्त्र भारत में मिली-जुली संस्कृति या 'गंगा-जमुनी तहजीब' के नाम पर एक घातक राजनीति चलती रही है। इस तहजीब के नाम पर मुस्लिम समुदाय तो वेश-भूषा, खान-पान, भाषा-संस्कृति, जीवनचर्या, कानून, इतिहास, शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि हर मामले में मात्र इस्लामी मानदण्ड से चलने के लिए स्वतन्त्र है। जबकि हिन्दू समुदाय से आशा की जाती है कि वह हर विषय में सेक्यूलर, हिन्दू-विरोधी और आत्म-घृणा की हद तक सेक्यूलर रहे। यह पाखण्डी परिदृश्य केवल भारत की ही विशेषता नहीं। हर उस देश में जहाँ इस्लामी सत्ता नहीं है, इस्लामी प्रतिनिधि अन्य लोगों से यही

माँग करते हैं। जो माँगें भारत में मिली-जुली संस्कृति या सेक्यूलरिज्म के नाम पर की जाती हैं, वही यूरोप या अमेरिका में 'मल्टी-कल्चरलिज्म' (मल्टी-कल्टी) की शब्दावली है। यह कपट समझना आत्यन्त आवश्यक है।

## 2

भारत की कोई अपनी विशिष्ट संस्कृति नहीं, बल्कि 'मिश्रित संस्कृति' है, यह घातक थीसिस प्रमुखतया जवाहरलाल नेहरू की देन है, जिसे पिछले पाँच-छः दशक के अथक दुहराव और सत्ता समर्थित प्रचार के बल से एक स्वयं सिद्ध तथ्य बना दिया गया है। किन्तु 'मिश्रित संस्कृति' के जुमले का अर्थ पूछो तो एक ही बात घुमा-फिरा कर कही जाती है कि वह संस्कृति जो इस्लाम के 'योगदान' से बनी। ग्यारहवीं शती से समय-समय पर भारत में अरबी, तुर्की, मंगोल शासकों के शासन में उनके 'संसर्ग' से जो संस्कृति बनी। इसलिए इस्लामी 'योगदान' से पहले भारत की जो भी संस्कृति रही हो, वह या तो बेकार थी या उसकी चर्चा को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। मिली-जुली संस्कृति या कम्पोजिट कल्चर पर बल देने में यह भाव अवश्यमेव रहता है।

इसमें कुछ बातें विचारणीय हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि यदि इस्लामी योगदान से यह 'मिश्रित संस्कृति' भारत में बनी, तो ऐसी कोई संस्कृति किसी और देश में क्यों नहीं बनी जहाँ इस्लाम पहुँचा? उदाहरणार्थ मेसोपोटामिया (इराक), फारस (ईरान), गंधार (अफगानिस्तान) में भी इस्लामी सत्ता बनने से पहले महान संस्कृतियाँ मौजूद थीं। वहाँ कल्चर कम्पोजिट क्यों न बना? उन देशों में इस्लाम-पूर्व सभ्यता के चिन्ह तक कहाँ लुप्त हो गए? यदि क्षण भर के लिए यही मान लें कि दुनिया में इस्लाम जहाँ-जहाँ पहुँचा, उनमें यह दुर्लभ कम्पोजिट कल्चर केवल भारत में ही बना, तब प्रश्न है कि यही कल्चर भारत से अलग हुए हिस्से पाकिस्तान में कहाँ गुम हो गया? वह विशुद्ध इस्लामिक कल्चर में, यानी फारस, गंधार वाले हथ में, कैसे तब्दील हो गया? वह भी तुरत!

विश्व का मानचित्र सामने रखकर देखें तो बात साफ हो जाएगी। स्पेन से लेकर मध्य एशिया तक जहाँ तक इस्लाम का प्रसार हुआ, किसी देश में 'मिश्रित संस्कृति' का फिकरा सुनने को नहीं मिलता। इस्लाम से पहले स्वयं अरब एक विकसित सभ्यता था। उसे मुहम्मद के बाद के सिर्फ बीस वर्षों में इस्लाम ने रौंद डाला। फारस को ध्वस्त होने में महज पचास वर्ष लगे। उसके बाद विश्व-प्रसिद्ध फारसी सभ्यता का कोई जीवित चिन्ह नहीं बचा। जान बचाकर भागे फारसियों ने भारत में शरण ली, जहाँ पारसी समुदाय के रूप में वे आज सुपरिचित हैं। बौद्ध गंधार ने अवश्य तीन सौ सालों तक प्रतिरोध किया। फिर वे भी नहीं टिक पाए। इन सब देशों में इस्लाम-पूर्व सभ्यता का कोई अवशेष तक नहीं रहा। और यहाँ भारत में इस्लाम के 'योगदान' से 'कम्पोजिट कल्चर' की कहानी गढ़ दी गई है! बात निपट

उलटी है। इस्लामी प्रहार भारतीय संस्कृति को खत्म नहीं कर सका, मात्र घायल कर सका, और यह 'मिश्रित' चिन्ह उसी घाव के हैं।

नेहरू जी के मूल तर्क को ही लें। उन्होंने भारत की 'मिश्रित संस्कृति, की उत्पत्ति पर लिखा है कि विदेशी इस्लामी शासकों ने यहाँ की स्त्रियों से विवाह किया, "जिसके बाद न कोई विजेता रहा, न कोई विजित, सब मिल-जुल गए!" अलाउद्दीन खिलजी से लेकर जहाँगीर तक, नेहरू जी ने बार-बार मात्र एक यही तर्कआक्रांता मुस्लिमों द्वारा हिन्दू स्त्रियों से भी विवाह, दुहराया है! इस के अतिरिक्त नेहरू जी के पास कहने के लिए कुछ नहीं है। जो अधिक ध्यान से देखने पर उल्टा ही निष्कर्ष देगा कि वास्तव में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कहीं कोई मेल नहीं बन सका (यह तथ्य सैयद अहमद खान जैसे नेताओं, तथा सर इकबाल, आई.एच. कुरैशी से लेकर नीरद सी. चौधरी तक, सभी स्पष्टवादी लेखकों, विद्वानों ने नोट भी किया है)।

किन्तु सबसे बुरी बात यह है कि नेहरूजी का एकमात्र तर्क अत्यन्त लज्जास्पद भी है। प्रथम, इस्लामी सुलतानों, बादशाहों, सरदारों के हरमों में हिन्दू स्त्रियाँ बलपूर्वक ले जाई जाती थीं। स्वेच्छया किसी हिन्दू द्वारा बेटी या बहन के विवाह सम्बन्ध का प्रस्ताव किसी सुलतान, सरदार, बादशाह को दिया गया हो, ऐसा एक भी उल्लेख सदियों के मुस्लिम शासन में नहीं मिलता। दूसरे, उन स्त्रियों को बलात् इस्लाम में धर्मांतरित भी करा लिया जाता था। परवर्ती मुगल शासन में इक्के-दुक्के अपवाद ही मिलते हैं जब किसी हिन्दू बेगम को अपनी पूजा-उपासना करने की छूट दी गई हो। पर नेहरू जी के लिए हिन्दू स्त्रियों का धर्मांतरण करा लेना कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य ही न था! तीसरे, किसी हिन्दू ने भी किसी इस्लामी शासक, सरदार की बेटी या बहन से विवाह किया हो, इसका भी कोई उदाहरण नहीं है। अन्ततः यह भी कि इस्लामी सरदारों, शासकों की जो सन्तानें हिन्दू स्त्रियों से उत्पन्न हुईं उनमें कभी इसके लिए कोई गौरव भाव नहीं देखा गया कि उनकी माँ हिन्दू थी। अतएव, जो बात एकतरफा बलात्कार मात्र थी, जो इस्लामी काल में हिन्दू समाज के लिए हर तरह से सदैव लज्जा और विवशता की रही, उसे 'मिश्रित संस्कृति' बताकर नेहरूजी ने भारत का घोर अपमान ही किया है। ऐसा लज्जास्पद कुतर्क नेहरू इसीलिए कर सके, क्योंकि वह अपने ही शब्दों में 'तबीयत से मुसलमान' थे और उन्हें हिन्दुत्व से अरुचि थी।

बाद में हमारे मार्क्सवादी इतिहासकारों ने 'मिश्रित संस्कृति' के इस नेहरूवादी कथानक को बल पहुँचाने के लिए भारत पर हुए इस्लामी आक्रमण को सजा-सँवार कर 'आगमन' कहना आरम्भ किया। यहाँ 'कम्पोजिट कल्चर' की कहानी सुनाने में अब यह आवश्यक तत्त्व बन गया है कि हर आक्रमणकारी, यदि वह मुस्लिम था, तो उसे 'आगंतुक' कहा जाएगा। उसके द्वारा स्थापित शासन को भी विदेशी शासन नहीं कहा जाएगा, चाहे उसमें हमेशा अधिकांश सामन्त, सिपहसालार और सरदार

अरबी, फारसी, मंगोल आदि विदेशी मुस्लिम ही क्यों न रहते रहे हों। इसके लिए मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत के इस्लामी काल के इतिहास को हर तरह से तोड़ने-मरोड़ने, लीपा-पोती करने, अर्थात् मिथ्याकरण का प्रयास किया है। बड़ी-बड़ी घटनाएँ गुम कर दी जाती हैं ताकि 'मिश्रित संस्कृति' की कपोल-कथा को चोट न पहुँचे।

यह भी अनायास नहीं है कि यहाँ 'मिश्रित संस्कृति' की उत्साहपूर्ण चर्चा करने वाले उसे ईरान, अफगानिस्तान या पाकिस्तान में भी खोजने की कोशिश नहीं करते। फारसी सभ्यता के अवशेष वहाँ से जान बचाकर भागे हुए पारसियों द्वारा गुजरात में आज भी मिल जाते हैं। मगर ईरान में उसका कुछ शेष नहीं है! और उसी ईरान से भारत कितना दूर था? किन्तु यहाँ पैर जमाने में भी इस्लामी हमलावरों को पाँच सदियों लगीं। उसके बाद भी यहाँ की संस्कृति, साहित्य, संगीत, अध्यात्म आदि किसी चीज को वे मिटा न सके। जो संगीत, जो साहित्य भारत में डेढ़ हजार वर्ष पहले था, वह आज भी उपलब्ध है। यह तब, जब इस्लामी आक्रमणकारियों ने ग्यारहवीं सदी से ही सोमनाथ मन्दिर, तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पूर्ण विध्वंस जैसे भयंकर कारनामे अनवरत किए। फिर भी न केवल इस्लामी आक्रान्ता भारतीय संस्कृति को मिटाने या जीतने में विफल रहे, बल्कि स्वयं इस्लाम का चरित्र भारत आकर, रहकर पूरी तरह डगमगा गया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इस्लामी विश्व-विजय के बढ़ते ज्वार को भारत में आकर अंततः उतार का सामना करना पड़ा। वह आगे बढ़ना तो दूर, भारत में भी अंततः अपदस्य हुआ। यह केवल राजनीतिक रूप से ही नहीं हुआ, जब एक मराठी सेनापति ने औरंगजेब के साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। ध्यान रहे, यह अंग्रेजों के हाथों मुगल शासन के खात्मे से पहले ही संपन्न हो चुका था। अतः राजनीतिक ही नहीं, वैचारिक-मजहबी विश्वास के रूप में इस्लाम यहाँ पराजित हुआ।

विश्व-विजय की उसकी दृढ़ता, तौहीद का अंधविश्वास, मूर्ति-पूजा से तीव्र घृणा, आदि उसकी कोई बुनियादी प्रतिज्ञा न थी, जो भारत में अर्खंडित रह सकी। धर्मांतरित होने के बाद भी भारतीय मुसलमान आमतौर पर वह नहीं बन सके जो इस्लाम का आदेश था। बीसवीं सदी तक भारत के अनेकानेक हिस्सों में मुसलमान हिन्दू रीति-रिवाजों का उसी तरह पालन करते रहे, जैसा वह जबरन-या-लोभ-दबाववश इस्लाम में धर्मांतरित होने से पहले तक करते रहे थे। बीसवीं सदी का तबलीगी आन्दोलन भारत के आम मुसलमानों को असली मुसलमान बनाने यानी भारत से पूर्णतः विमुख करने और अरब-मुखी बनाने का ही आन्दोलन था और है। तथाकथित 'मिश्रित संस्कृति' का एक पक्ष यह भी है कि उसका हवाला केवल हिन्दुओं को अपनी संस्कृति छोड़ने के लिए दिया जाता है। जबकि मुसलमान नेताओं, बौद्धिकों

का हरेक बात में अरब की संवेदनाओं, निर्देशों से चलना स्वभाविक माना जाता है। उसकी निन्दा करना तो दूर रहा।

अन्ततः यह प्रश्न भी विचारणीय है कि इस कम्पोजिट कल्चर के लिए आहें भरने वाले केवल भारतीय हिन्दू मार्क्सवादी ही क्यों हैं? उन्नीसवीं, बीसवीं सदी के अनगिनत मुस्लिम बुद्धिजीवियों में इसके प्रति कोई चिन्ता क्यों नहीं दिखाई पड़ती? यदि गम्भीरता से विचार करें तो इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही मिलेगा कि भारत में मिली-जुली संस्कृति इस्लाम की देन नहीं, उसकी निपट *विफलता* है। भारत पर सम्पूर्ण सैनिक, वैचारिक अधिकार कर पाने में विफलता। पूरे समाज का धर्मांतरण करा पाने में विफलता। अन्ततः भारत की सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिक चेतना, दर्शन, परंपरा और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए हिंदुओं के दृढ़-निश्चय को नष्ट कर पाने में विफलता के कारण ही यह तथाकथित कम्पोजिट कल्चर बना। अतः जिस चीज को मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और प्रचारक भारत में इस्लाम की देन कहना चाहते हैं, वास्तव में यह उसका विपरीत है। यह हिन्दू प्रतिरोध का परिणाम है। इसीलिए पाकिस्तानी या भारतीय मुस्लिम बुद्धिजीवियों में इस संस्कृति के प्रति कोई आग्रह नहीं मिलता। वे अब भी अरब संस्कृति के प्रति आग्रही हैं, चाहे वह स्वयं वास्तव में हिन्दुओं जैसी ही हिन्दुस्तानी संस्कृति में जी रहे हों। अनेक कम्युनिस्ट नेताओं की तरह ही, जो रोजमर्रे के जीवन में हर तरह से भारतीय होते हुए भी मानसिकता में स्तालिनवादी संस्कृति से जुड़े थे।

### 3

किन्तु स्वीकार करना पड़ेगा कि वामपंथी प्रोफेसरों, बुद्धिजीवियों की राजनीतिक-वैचारिक कटिबद्धता व सक्रियता अनुकरणीय है। वही चार लोग चौदह किस्म के मंच से चौबीस कार्यक्रम करते नजर आते हैं। हर कार्य में एक ही उद्देश्य होता है : हिन्दू मनीषा, भावना, दर्शन, आकांक्षा, चिन्ता आदि को बेधड़क हिन्दू 'साम्प्रदायिकता' बताकर उसे मटियामेट करने का उपक्रम। अपनी जिद्दी प्रस्थापनाओं के लिए कितने भी असुविधाजनक प्रमाणों, तथ्यों, स्थितियों से कभी तनिक भी संकोचग्रस्त न होना, और हर मंच से, हर हाल में अपनी राजनीतिक-वैचारिक टेक दुहराना।

उसी प्रवृत्ति का एक उदाहरण पिछले दिनों दिल्ली में बहुसांस्कृतिक समाज और मिश्रित संस्कृति विषयक सेमिनार में देखा जा सकता था। वक्ताओं की सूची देशी उन मार्क्सवादी इतिहासकारों से भरी थी, जो स्वयं को प्रत्येक विषय का अधिकारी प्रवक्ता मानते हैं। उनके अतिरिक्त सावधानीपूर्वक चुने हुए विदेशी प्रगतिशील थे। भिन्न विचार का कोई न हो, इसके लिए संस्कृति विषयक लब्ध-प्रतिष्ठित भारतीय विद्वानों-विदुषियों को भी उपेक्षित किया गया। इतना ही नहीं, सेमिनार को मनचाही दिशा देने के लिए एक वरिष्ठ मार्क्सवादी ने पहले ही

विषय सम्बन्धी एक विस्तृत, लिखित प्रस्तावना बँटवा दी। तीन पन्ने के इस निबन्ध में पूरे विषय की मुश्कें बाँध कर इस प्रकार रख दिया गया कि क्या मजाल सेमिनार एक पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष पर न पहुँचे! आखिर उनके आयोजनों का लक्ष्य ही यही रहता है कि मार्क्सवादियों द्वारा पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष चतुराईपूर्वक सेमिनार का निष्कर्ष दिखा कर श्रोताओं, मीडिया और नौसिखुए भागीदारों के लिए भी घर ले जाने और दूर-दूर तक बार-बार प्रचार के लायक बन सके।

यह प्रस्तावना पढ़कर दो कहावतें ध्यान में आती हैं। यदि कोई किसी भले आदमी से पूछे, "तुमने अपनी बीवी को पीटना बन्द किया या नहीं? हाँ या ना में उत्तर दो", तो उसकी क्या हालत होती है! इस प्रस्तावना में भी ऐसे ही प्रश्न रखे गए थे। और एक, दो नहीं, पूरे तीस! जी हाँ, छोटे से तीन पृष्ठ के लेख में तीस प्रश्न छपे हुए हैं। जिन प्रश्नों से सम्बन्धित विषय के, इन्हें पढ़ने वालों के और सेमिनार भागीदारों के वैचारिक हाथ-पाँव बँधकर रह जाते हैं। जो भी व्यक्ति स्वतन्त्र बुद्धि से बहुसंस्कृति या मिली-जुली, मिश्रित संस्कृति पर विचार करना चाहे उसे इन तीस प्रश्नों से निपटने और उससे हट कर बाहर जाने में वैसी ही कठिनाई महसूस होगी, जैसी उक्त प्रश्न को सुनकर किसी भले आदमी की हो सकती है।

दूसरी उस कहावत का स्मरण होता है कि हरियाणा के किसी गाँव में कोई जाट एक खाट सिर पर उठाए जा रहा था। रास्ते में अपने दालान पर बैठे एक तेली ने उसे देखकर हँसी में कहा, "जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट!" जाट को कुछ बुरा सा लगा। उसने भी पलट कर कहा, "तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू!" इस पर तेली ने कहा, "भई, तुम्हारी बात में तुक तो बैठी नहीं।" जाट ने कहा, "तुक मिले या नहीं, कोल्हू के वजन से तुम पिस जाओ, मेरा तो यह मतलब है।"

सेमिनार की प्रस्तावना में दिए गए तीस सवाल उस जाट वाली भावना से ही रखे गए थे। चाहे उन बातों की कोई तुक हो या नहीं, दी गई प्रस्थापनाओं का कोई सिर-पैर या संगति हो या नहीं, किन्तु उन्हें पढ़ने वाला उन्हीं में उलझ कर रह जाए, या चिढ़कर चुप हो जाएपूरे लेख का यही उद्देश्य प्रतीत होता है। अन्यथा 'संस्कृति', 'मिश्रित संस्कृति' या 'बहु-संस्कृति' आदि शब्दों को निराकार, मनमाने या अन्तर्विरोधी रूपों में प्रयोग करने का कोई और आशय नहीं हो सकता। जैसे, "आज दुनिया भर के सभी समाज बहुसांस्कृतिक हो गए हैं" जैसी मनमानी सपाटबयानी से कोई क्या समझे! क्या चीन कोई बहुसांस्कृतिक समाज है? या ईरान, जापान अथवा सम्पूर्ण अरब क्षेत्र के तमाम देश? मंगोलिया और मध्य एशिया के सभी देश? पूरा अफ्रीका? इन सभी देशों में अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज इतनी स्पष्टता से परिलक्षित होते हैं कि वहाँ हमारे मार्क्सवादी का 'बहुसंस्कृतिवाद' कोई समझ ही नहीं सकेगा। और स्वयं यूरोप, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका में क्या अनेक तरह की संस्कृति है? वहाँ

इस नाम का एक राजनीतिक नारा अवश्य है, जिसे मुट्ठी भर प्रगल्भ लोग अपने धन्धे के रूप में प्रयोग करते हैं। किन्तु उन देशों की संस्कृति भी विशिष्ट है।

उदाहरण के लिए अमेरिकी संस्कृति में प्रोटेस्टेंट ईसाइयत के तत्त्व बड़ी मजबूती से जमे हुए हैं। लोकतन्त्र का अमेरिकी स्वरूप भी उसी का अंग है। उसी तरह चीन में हान संस्कृति और अरब के सभी देशों में एक मात्र इस्लामी संस्कृति है। वही एशिया के ईरान और पाकिस्तान में भी है। यह देश स्वयं को न केवल घोषित व औपचारिक रूप से 'इस्लामी गणतन्त्र' कहते हैं, वरन् उनके नियम, कानून, परिधान, भोजन, विदेश नीति आदि सब कुछ मुख्यतः इस्लामी निर्देशों से नियन्त्रित हैं। तब हमारे मार्क्सवादी द्वारा जान-बूझ कर दुनिया के सभी समाजों को 'बहुसांस्कृतिक' किस मंशा से कहा जा रहा है? यहीं से भारतीय मार्क्सवादियों के कटिबद्ध हिन्दू-विरोधी एक्टिविज्म को पहचानना आरम्भ कर सकते हैं। उनका उद्देश्य मात्र यह स्थापित करना है कि भारत कोई सनातन-धर्मी या हिन्दू समाज नहीं है, न होने की कोई बात भी करे! यह तो मिश्रित-संस्कृति वाला, बहुसांस्कृतिक समाज है जिसमें एक गंगा-जमुनी संस्कृति है, जिसमें इस्लाम का गहरा योगदान है। उर्दू शायरी, सूफी सिलसिला, ताजमहल और लालकिला, मुगलई खाना और सीक-कबाबयह सब हिन्दुस्तानी संस्कृति का अविभाज्य अंग है! अतएव, यदि आप संस्कृत, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, योग, आयुर्वेद, छप्पन-भोग या वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि की सांस्कृतिक चर्चा करते हैं तो इसका अर्थ यही है कि आप इस्लाम के महान सन्देश को छोटा करके दिखाना चाहते हैं। मुसलमानों की, अल्पसंख्यकों की भावना को ठेस पहुँचाना चाहते हैं। यह हिन्दू साम्प्रदायिकता है। इसकी इजाजत नहीं दी जा सकती। यही साबित करना था, क्यू.ई.डी।

अब आप यह न पूछें कि तब क्या ईरान, सऊदी अरब और पचास अन्य मुस्लिम देशों में 'मुस्लिम साम्प्रदायिकता' का बोल-बाला है? अर्थात् उन देशों में, जो इस्लाम के अतिरिक्त न तो किसी विश्वास, न परम्परा, न परिधान, न खान-पान को कानूनी या सार्वजनिक रूप से बर्दाश्त करते हैं? यहाँ तक कि उन देशों में विदेशी, गैर-मुस्लिम लोगों को भी इस्लामी नियमों का पालन करना होता है। अमेरिकी, ईसाई महिला पत्रकार को भी तेहरान में बुर्का पहनकर चलना होता है। रियाद में हिन्दू इंजीनियर न तो पूजा-पाठ कर सकता है, न दुर्गा या हनुमान की कोई मूर्ति ले जा सकता है न *रामचरित मानस* का कोई गुटका ही रख सकता है। तो क्या यह कहें कि वे देश मुस्लिम साम्प्रदायिक हैं? किसी भी हाल में, दर्जनों देशों में स्पष्ट इस्लामी तन्त्र को देखते हुए दुनिया के इतने विशाल क्षेत्र के देशों को 'बहुसांस्कृतिक' कैसे कह दिया जा सकता है?

इसलिए ऐसे प्रश्न सुनते ही कि क्या अरब-अफ्रीका-एसिया के दर्जनों देश 'मुस्लिम साम्प्रदायिक' कहे जा सकते हैं, जहाँ सेक्यूलरिज्म का कोई ठौर नहीं है?

हमारे मार्क्सवादी प्रोफेसर बात बदलने को उद्धत हो उठेंगे। वैसे भी, इनसे बचने के लिए ही तो वे तीस प्रश्न सेमिनार की प्रस्तावना में डाले गए थे ताकि 'अन्तर्राष्ट्रीय' चलन की धौंस देकर भीरु हिन्दुओं को पहले ही मौन किया जा सके। फिर चाहे वस्तुतः बात केवल भारत पर ही केन्द्रित रहे, पूरी चर्चा में बहुसांस्कृतिवाद, मिश्रित-संस्कृति की जय-जयकार हो। ठीक इसीलिए संस्कृति या बहुसंस्कृति की कोई स्पष्ट परिभाषा से भी बचा गया, ताकि मौके पर काम आए। अब मजहब को संस्कृति का अंग मानना ठीक नहीं! टेलीविजन, जींस, हैमबर्गर, अंग्रेजी, हॉलीवुडयह सब न आधुनिक संस्कृति के अंग हैं। तब आप आसानी से समझ जाएँगे कि दुनिया कैसी बहुसांस्कृतिक हो चली है। इसी दृष्टि से आप यह भी समझ सकेंगे कि 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की बातें करने वाले कैसे दकियानूस और साम्प्रदायिक लोग हैं। जी हाँ, प्रस्तावना में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की लिख कर निन्दा कर दी गई है! यह संयोग नहीं, बल्कि पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष की ओर ले जाने की अपरिहार्य वामपंथी तकनीक है।

वस्तुतः सेमिनार के लिए तैयार यह पूरी प्रस्तावना इस्लामी श्रेष्ठता की दृष्टि से बनाई गई है। इसीलिए इसके तीस प्रश्नों में से ऐसा एक भी नहीं था जो इस्लामी या ईसाई साम्प्रदायिकता के लिए असुविधाजनक हो। वरन् पूरी चर्चा इस्लामी संस्कृति पर जोर देने, उसे महत्त्वपूर्ण बताने, उसे शक्ति देने के लिए तैयार की गई है। यह समझने के लिए ऐसे लेखों, दस्तावेजों, कार्यक्रमों का तनिक ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। आदि से अन्त तक इसमें हिन्दू-विरोधी मनोवृत्ति अटी रहती है। प्रतिभागियों का चुनाव, अवधारणाओं की अस्पष्टताएँ, मनमानी घोषणाएँ, पक्षपात और निर्लज्ज मिथ्याचारइन सबके पीछे इसी मनोवृत्ति का निर्देश रहता है। पाठक स्वयं इसका परीक्षण कर सकते हैं। हमारे मार्क्सवादियों की सक्रियता उन्हें निरन्तर इसका अवसर देती रहती है। आवश्यकता इस बात की है कि पूर्व-धारणाओं से मुक्त होकर स्वयं अपने विवेक से प्रस्तावित विचारों, नारों, प्रस्थापनाओं की परख की जाए। जब सामान्य पाठक ऐसा करने लगेंगे, मिली-जुली संस्कृति के पीछे के राजनीतिक आशय को पहचानने में कभी सन्देह न होगा।

# ‘हिन्दी-उर्दू’ और डा. रामविलास शर्मा

कृष्णचन्द्र गोस्वामी

राष्ट्रीय एकता में हिन्दी की अपरिहार्य-भूमिका और हिन्दी भाषी क्षेत्र की जातीयता<sup>1</sup> के निर्धारण के क्रम में डा. रामविलास शर्मा ने हिन्दी-उर्दू के पारस्परिक सम्बन्धों, अंग्रेजी-कूटनीति के कारण उन सम्बन्धों में पैदा हुए तनावों और राष्ट्रहित में उनके सम्भाव्य समाधानों के बारे में विस्तार-पूर्वक विचार किया है। रामविलास जी के मनोजगत् का निर्माण तुलसी, विवेकानंद, निराला, प्रेमचन्द्र, प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम और राष्ट्रीय-आन्दोलनों के गहरे प्रभाव को आत्मसात् करके हुआ था; यह बात हम अन्यत्र कह चुके हैं<sup>2</sup> और यह भी कि बाद में जब वे मार्क्सवाद के सम्पर्क में आए तब उन्होंने इस मार्क्सवाद को भी भारत-भक्ति के एक प्रबल साधन के रूप में ही ग्रहण किया और साम्राज्यवादी-सामंतवादी शक्तियों, मनोवृत्तियों तथा विश्व-नागरिकतावाद (कौसमोपालिटिनिज्म) के विरोध को प्रत्येक देशभक्त और जनवादी लेखक का स्वाभाविक कर्तव्य माना।<sup>3</sup>

डा. रामविलास जी का दृढ़ विश्वास था कि भाषा के बिना संस्कृति और संस्कृति के बिना राष्ट्रीय-अस्मिता का बोध नहीं हो सकता है। अतः साम्राज्यवादी आक्रमण से राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा का प्रश्न भाषा और संस्कृति की रक्षा के प्रश्न से गहराई से जुड़ा है।<sup>4</sup> यही कारण था कि आजीविका की दृष्टि से अंग्रेजी के अध्यापक और कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की समालोचना में रमे रामविलास जी ने हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा और हिन्दी जाति के निर्माण के लिए एक लम्बा वैचारिक संघर्ष किया। उनके द्वारा विचारित ‘हिन्दी-उर्दू’ का प्रश्न भी उनके इसी वैचारिक संघर्ष का एक महत्वपूर्ण अंग है।

जैसा कि हम आरम्भ में संकेत कर चुके हैं कि रामविलास जी की दृष्टि में राष्ट्रीय-एकता को सुदृढ़ करने में हिन्दी की भूमिका आधारभूत और इसीलिए अपरिहार्य थी। अतः उनके द्वारा एक सुगठित हिन्दी-प्रदेश और एकात्म हिन्दी जाति के निर्माण के लिए प्रयास किया जाना स्वाभाविक था। हिन्दी स्वतंत्रता-संग्राम की

\* डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी श्री निकुंज, हिन्दी विभाग, महारानी जया महाविद्यालय, भरतपुर, बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर (राजस्थान)।

भाषा थी और देश की स्वतंत्रता के बाद उसे गैर-हिन्दी भाषी राज्यों के राजनीति विरोध का सामना करना पड़ रहा था; वहीं दूसरी ओर, अपने घर में उर्दू के अलगाववाद की धुंध अभी छँटी नहीं थी। इस कठिन समय में रामविलास जी ने ‘राष्ट्रभाषा की समस्या’ (सन् 1955) और ‘भाषा और समाज’ (सन् 1961) जैसी पुस्तकें लिखकर हिन्दी को आन्तरिक और बाह्य इन दोनों प्रकार के आक्रमणों से उबारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रामविलास जी का यह हिन्दी-प्रेम तात्कालिकता की उपज नहीं था। वे लम्बे समय से हिन्दी के विकास और प्रयोग के लिए आग्रहशील बने हुए थे। फरवरी 1948 में जब कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी पार्टीकाँग्रेस कलकत्ता में हुई तो वहाँ अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी के हटने पर राष्ट्रभाषा के रूप में केवल हिन्दी को स्थान दिए जाने की माँग करने वाले रामविलास जी ही थे।<sup>5</sup> यही नहीं, उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की संगठनात्मक बैठकों में भी इस प्रश्न को पूरे जोर से उठाया कि कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर सभा का काम हिन्दी या भारतीय भाषाओं में क्यों नहीं किया जा रहा?<sup>6</sup>

स्पष्ट है कि रामविलास जी का दृष्टिकोण उदार और व्यावहारिक था। वे अगर अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी के प्रयोग का समर्थन कर रहे थे; तो प्रान्तीय स्तर पर प्रान्तों की अपनी-अपनी भाषाओं के प्रयोग और विकास के आकांक्षी भी थे। गैर हिन्दी-क्षेत्र में हिन्दी का सबसे भीषण विरोध तमिलनाडु में हो रहा था; किन्तु इस विरोध में रामविलास जी के लिए कष्टप्रद बात यह थी कि इस आन्दोलन के नेता तमिल की प्रतिष्ठा के लिए नहीं; अंग्रेजी के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए जोर दे रहे थे। उनका नारा था हिन्दी नेवरइंग्लिश एवर।<sup>7</sup>

इधर उर्दू को लेकर जो बातें हिन्दी क्षेत्र में कथित मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों द्वारा कही जा रही थीं; रामविलास जी के अनुसार उनका सार यह था: “मुसलमानों का कोई राष्ट्र नहीं, कोई जाति नहीं। सारी दुनियाँ के मुसलमान भाई-भाई हैं। भारत के मुसलमानों में बहुत से बाहर से आकर बसे हैं; बहुत से धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान बने हैं। फिर इन लोगों के द्वारा रचित साहित्य का मूल्यांकन राष्ट्र या जाति के अनुसार कैसे हो सकता है? संस्कृत के अलावा हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से एक मुश्तर्का भाषा का जन्म हुआ जो किसी प्रदेश या जाति की भाषा नहीं है। यह भाषा उर्दू या हिन्दुस्तानी है। यदि राष्ट्रीय साहित्य किसी भाषा में लिखा जा सकता है तो वह यही उर्दू है। और यदि भारत की कोई राष्ट्रीय संस्कृति हो सकती है तो वह है हिन्दु मुसलमानों के मेलजोल से उर्दू की तरह ही बनीगंगा-जमनी संस्कृति जिसका किसी प्रदेश या जाति से कोई संबंध नहीं है।”<sup>8</sup>

स्पष्ट है कि इन तमाम धारणाओं के मूल में राष्ट्रीय एकात्मता के स्थान पर राष्ट्रीय-विखण्डन और अलगाववाद के संकल्प सक्रिय हैं। जरा-सा ध्यान देंगे तो यह बात समझने में देर न लगेगी कि इन विलगाववादियों के हाथों में जो सब से प्रबल

शस्त्र हैवह है भाषा का। रामविलास जी की क्रान्त-दृष्टि से भी यह बात छुपी हुई न थी, अतः उन्होंने उर्दू की उत्पत्ति और विकास पर 'भाषा और समाज' में न केवल विस्तार से विचार किया अपितु इस बात का भी सप्रमाण खण्डन किया कि मुसलमानों की भाषा देश की अन्य तमाम भाषाओं से अलग है। उन्होंने जोर देकर कहा कि 'बाहर से जो मुसलमान' आए, वे किसी एक जाति के न थे; उन सबकी भाषा एक न थी। उनका सांस्कृतिक स्तर भी एक-सा न था। उनमें शरीफ, बदमाश लुटेरे, व्यापारी, विद्वान्, जाहिलहर किस्म के लोग थे। इसीलिए यह धारणा कि मुसलमान एक जाति के थे; उनकी एक भाषा और संस्कृति थी; गलत है।<sup>9</sup> उल्लेखनीय है कि यह बात रामविलास जी की चिन्ता का कारण बनी हुई थी कि 'इस गलत धारणा के शिकार मुसलमान ही नहीं; हिन्दू भी हैं।' <sup>10</sup> इसीलिए उन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इस भ्रम का निराकरण करने का प्रयास किया और कहा कि हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान एक जाति के थे और आज भी एक ही जाति के हैं। धर्म के आधार पर न कहीं भाषाओं में भेद उत्पन्न हुआ है, न कहीं जातियाँ बनी हैं।<sup>11</sup>

वस्तुतः रामविलास जी भाषा का सम्बन्ध धर्म से नहीं धरती से मानते थे और इसीलिए उन्होंने जोर देकर कहा कि ठीक है मध्यकालीन भारत के पच्छिम से अनेक जातियों के आक्रमण हुए किन्तु आक्रमणों से, आक्रान्ता जातियों के घुलमिल जाने से, धर्म बदलने से, अथवा नए धर्मवलम्बियों के आकर बसने से किसी भी भाषा के मौलिक रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।<sup>12</sup>

रामविलास जी का अनुभव यह था कि उर्दू लिखने वाले आरंभिक कवियों की काव्य-भाषा किसी भी प्रकार हिन्दी से अलग न थी। उत्तर भारत के अमीर खुसरो और दक्षिण भारत के ख्वाजा गेसू दराज और शाह मीरान जैसे कवियों ने अपनी भाषा को हिन्दी, हिन्दवी या रेखा कहा है।<sup>13</sup> रामविलास जी के इस मत की पुष्टि डा. मसऊद हसन की ~~तरिकात-ए-उर्दू~~ के उस अंश से होती है जिसे डा. एजाज हुसेन ने अपनी पुस्तक 'उर्दू साहित्य का इतिहास' के 'उर्दू भाषा का जन्म' शीर्षक अध्याय में इस प्रकार उद्धृत किया है :

“बहरहाल, लफ्जों और वाक्यों के जो नमूने हमें महमूद गजनवी, पृथ्वीराज वगैरह के जमाने के साहित्यिकों और दीन और धर्म के बुजुर्गों के यहाँ बराबर मिलते आए हैं, उनको देखकर हम कह सकते हैं कि एक नई जबान का रूप निखरता आ रहा था। इस जबान को फैलाने में फौजियों का भी बहुत-कुछ हिस्सा है। यह नई जबान शुरू में ब्रजभाषा, खड़ी बोली और राजस्थानी से मिलकर चलती है, लेकिन बाद में खड़ी बोली पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर देती है। इस जोर का बड़ा कारण फौजियों का मुल्क में फैलना था। दिल्ली सुल्तानों की फौज में भरती अम्बाला, करनाल, हिसार और दिल्ली के दक्खिन में मेवात के इलाके से की जाती थी।<sup>14</sup>

इस उदाहरण को पढ़ते हुए यहाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्मरण हो आना स्वाभाविक है क्योंकि उन्होंने आदिकाल के प्रसंग में खुसरो की काव्य भाषा में खड़ी बोली लिए राजस्थानी और कबीर की काव्य भाषा में सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली (साखियों में) और ब्रजभाषा (रमैनी तथा सबद में) की उपस्थिति मानी है।<sup>15</sup> स्पष्ट है कि जिसे ऊपर के उदाहरण में 'नई जबान' कहा जा रहा है वह और कुछ नहीं आदिकालीन हिन्दी का सुपरिचित 'काव्य-भाषा' रूप है। हाँ, उसमें आक्रमणकारी तुर्कों और पठानों से परस्पर व्यवहार प्रारंभ हो जाने के कारण तुर्की, पठानी, ईरानी आदि भाषाओं के कुछ शब्द अवश्य शामिल हो गए थे। दूसरी बात यह कि उक्त उदाहरण में अंबाला, करनाल आदि जिन स्थानों का उल्लेख है उन स्थानों की बोली 'खड़ी-बोली' है, उसी का उपयोग फौजियों ने किया चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू।

डा. रामविलास शर्मा ने इसी वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि '12वीं-13वीं शती के उर्दू लेखकों की भाषा में ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के शब्दों की बहुलता थी। अरबी-फारसी के शब्द उनकी काव्य-भाषा में मात्र पाँच-छह प्रतिशत ही थे। (16) इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध सूफी साधक शाह मीरान जी (निधन कालसन् 1496 ई.) की रचनाओं को रामविलास जी ने उदाहरण स्वरूप सामने रखा है

*ना उस रूप ना उस देह ना उस थान मकान।*

*निरगुन गुनवन्ता किस मुख करूँ बखाना॥*

× × ×

*जै तेरा होवे करमतो टूटे सभी भरम।*

*इस कारन तुमकूँ ध्याऊँ, हीर तेरा लेऊँ नाऊँ॥*

कहने की आवश्यकता नहीं है कि शब्द-भण्डार की दृष्टि से यह भाषा कबीर की काव्य-भाषा के अत्यन्त निकट है। कदाचित् इसीलिए इन पद्यांशों पर रामविलास जी की टिप्पणी है कि "यह भाषा उत्तर भारत के उन सभी भागों में सहज ही समझी जा सकती है जहाँ खड़ी बोली न बोली जाती हो।<sup>17</sup> स्पष्ट ही यह दकनी हिन्दी-उत्तर की हिन्दी से अलग कोई नई भाषा नहीं थी। जायसी, रहीम और रसखान नहीं; मीर की उक्ति देखिए

*क्या जानू लोग कहते हैं किस को सरुरे कल्ब।*

*आया नहीं है लफ्ज ये, हिन्दी जवाँ के बीच॥*

इस तरह, रामविलास जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "हिन्दू-मुसलमानों को साथ-साथ रहते लगभग छह सौ वर्ष बीत रहे थे। ऐसी स्थिति में रामविलास जी का प्रश्न यह है कि यदि उर्दू मुसलमानों की अलग जबान होती तो रूप-ग्रहण करने में इतने वर्षों तक इन्तजार क्यों करती? वे आगे लिखते हैं कि "अठारहवीं सदी की

उर्दू रूप वाली खड़ी बोली और इससे पहले की दकनी रूप वाली खड़ी बोली के शब्द-भण्डार में अन्तर यह है कि हिन्दी के वे प्रचलित शब्द जो दकनी में मिलते हैं; उर्दू से हटाए गए हैं और उनकी जगह फारसी के शब्द रखे गए हैं।<sup>19</sup> इस तरह हिन्दी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करने वाले नजीर अकबराबादी जैसे उच्चकोटि के शायर अब उर्दू को संकुचित करने वाले इन लेखकों की नजर में ऊँचे दर्जे के शायर न रह गए।<sup>20</sup>

नजीर अकबराबादी के सम्बन्ध में डॉ. एजाज हुसेन ने लिखा है कि “नजीर के बारे में आलोचकों ने अलग-अलग किस्म की राएँ कायम की हैं; लेकिन हकीकत यह है कि वह शायर थे, मगर चोटी के शायरों में नहीं।<sup>21</sup> प्रश्न यह है कि नजीर चोटी के शायरों में क्यों नहीं थे? डॉ. एजाज हुसेन ने उनकी शायरी की जो विशेषताएँ बताई हैं, उन्हीं में कहीं इस प्रश्न का सही उत्तर भी छिपा हुआ है। डॉ. एजाज हुसेन लिखते हैं

“नजीर की मजहबी नज्मों में जहाँ इस्लाम के बाज रहनुमाओं का जिक्र है, वहाँ गुरु नानक भी आते हैं और उनके ‘कुल्लियात’ का अच्छा-खास हिस्सा हिन्दू धर्म की कथाओं, रीति-रिवाजों और त्योहारों के रंगीन और दिलकश बयान से भरा हुआ है।”<sup>22</sup>

इसी क्रम में डॉ. एजाज हुसेन ने नजीर की शख्सियत और काव्य भाषा को लेकर एक ऐसी टिप्पणी की है जिसमें से उर्दू को मुश्तर्का जबान कहने वालों की असली तसवीर भी सामने आ जाती है। उनके शब्द हैं “नजीर का लगावा किसी राजधानी से न था; इसीलिए वह साधारण आदमी की तरफ खिंचे; आवाम के पास आए। इसीलिए उनको वह जबान अख्तियार करनी पड़ी, जिसे समझना आवाम के लिए आसान हो। शायरी की कला का ऊँचा बनावसिंगार तो उनके यहाँ न हो सका; लेकिन अपने अन्दाज और शैली से उन्होंने कला की सच्ची परख का पूरा पता दिया।”<sup>23</sup>

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ जिसे ‘आवाम’ कहा जा रहा है उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। और वह ‘जबान’ जो इस आवाम के लिए समझना आसान थीकेवल मुसलमानों की ‘मुश्तर्का जबान’ नहीं थी जैसा कि तत्कालीन मुसलिम रूढ़िवादी नेतृत्व और 1937-39 के मध्य मुसलिम लीग के नेताओं की ओर से दावा किया जाता रहा है<sup>24</sup> सच बात यह थी कि इस ‘आवाम’ के लिए अरबी-फारसी के सामासिक-शब्दों, मुहावरों से लदी-फदी दरबारी उर्दू को समझना आसान न था; फिर उसे बोलना तो और भी अलग बात थी। ऐसी स्थिति में; ध्यान आता है कि रामविलास जी ने ‘हिन्दी भाषी क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान एक ही जाति के थे और आज भी एक ही जाति के हैं।’ यह बात किस आधार पर कही।

डॉ. एजाज हुसेन ने उर्दू के विकास-क्रम की चर्चा करते हुए प्रसंगत: इस बात का उल्लेख किया है कि ‘अकबर के वक्त में इस (उर्दू) की तरक्की को चोट पहुँची

और औरंगजेब के जमाने में यह जबान सबसे आगे निकल जाती है और इसका नाम ‘उर्दू-ए-शाही’ भी कहीं-कहीं मिलने लगता है।’ वे आगे लिखते हैं “अब मुसलमान शायरों ने अब्दुरहीम खानखाना की रविश पर न जाकर, ब्रजभाषा की कविता छोड़ करके इसी ‘उर्दू-ए-शाही’ को अपनाना शुरू किया।<sup>25</sup>

इस उदाहरण में अकबर के बरक्स औरंगजेब के नामोल्लेख ने पूरी बात को एक ऐसी दिशा देने की कोशिश की है जिसका वस्तुस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इतिहास में अकबर अपनी उदारता और समन्वयवादी दृष्टिकोण के लिए जाना जाता है; जबकि औरंगजेब की प्रसिद्धि कट्टरता और धर्मान्धता को लेकर है। ‘अकबर के राज्य में उर्दू की तरक्की को चोट पहुँची’ कहने की एक अर्थ-ध्वनि यह भी निकलती है कि ‘हिन्दू-मुस्लिमों की एकता उर्दू के विकास में बाधक है।’ उर्दू को लगी इस कथित ‘चोट’ के आसपास डॉ. हुसैन ने जो तर्क खड़े किए हैं वे भी कुछ इसी तरह के हैं।<sup>26</sup> किन्तु हम यहाँ यह बात जोर देकर कहना चाहते हैं कि जन सामान्य के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों उस एक ही भाषा के नाम थे जिसे वह ‘आवाम’ की शकल में व्यवहार में ला रहे थे। इस भाषा में भेद की जो दरारें उभर रही थीं; उनका गहरा सम्बन्ध तत्कालीन सियासतदानों की वर्चस्ववादी राजनीति से था। यही वह समय था जहाँ से आगे इस उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों की ऐसी बहुलता हुई जो ‘न भूतो न भविष्यति’ की कोटि में रखे जाने योग्य है।<sup>27</sup>

किन्तु रामविलास जी के अनुसार उत्तर भारत में फारसी न मुसलमानों की बोलचाल की भाषा थी; और न हिन्दुओं की। उसे हिन्दू भी सीखते थे, मुसलमान भी उन मुसलमानों को छोड़कर जो सीधे ईरान से आए थे। इस प्रकार, रामविलास जी का अभिमत यह है कि उत्तर भारत में फारसी का सामाजिक आधार अत्यन्त संकुचित था।<sup>28</sup> यही कारण था कि आवाम की उस जबान, जिसे आगे चलकर उर्दू के नाम से प्रसिद्धि मिली; में जैसे-जैसे अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता हुई; वैसे-वैसे यह उन भाषाओं के संकुचित सामाजिक आधार के कारण उस वर्ग-विशेष तक सीमित होकर रह गई जो किसी-न-किसी रूप में राजदरबारों जहाँ के काम-काज की भाषा फारसी थीसे जुड़ा हुआ था।

सच बात तो यह है कि उर्दू के प्रसिद्ध कवियों में राजदरबार से सम्बन्ध न रखने वाले कवि अपवाद रूप में ही थे।<sup>29</sup> हिन्दी-उर्दू में जो अलगाव आगे चलकर दिखाई दिया उसका एक प्रमुख कारण डॉ. रामविलास जी ने उर्दू काव्य के इसी संकुचित सामन्ती आधार को माना है।<sup>30</sup> ‘आवाम’ की भाषा में कोई खास भेद न था जैसाकि हमने अभी नजीर के सन्दर्भ में भी देखा कि वे जैसे ही अपनी ‘कविता’ को ‘आवाम’ के पास ले गए वैसे ही वह ‘हिन्दी’ से अलग न रही।

×××



पहले 'शाहजहाँनी उर्दू' और फिर 'उर्दू-ए-शाही' के नाम से खड़ी बोली का जो फारसी बहुल रूप काव्य-रचना का आधार बना; वह अपने सीमिति और संकुचित सामाजिक तथा सामन्ती अधिष्ठान के बावजूद भारतीय संस्कारों में पले मनों को बाँट नहीं सका; इस बात का प्रमाण यह है कि उर्दू के पहले कवि होने का श्रेय शाहजहाँ के एक दरबारी पण्डित चन्द्रभान (निधन तिथि-1662 ई.) को प्राप्त है। ये 'विरहमन' (ब्राह्मण का फारसी उच्चारण) नाम से कलाम कहते थे।<sup>31</sup> बाद में भी अनेक हिन्दू और मुसलमान इस शैली में बराबर काव्य-रचना करते रहे, किन्तु सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद यह स्थिति बनी न रह सकी। एशियाई जातियों के परस्पर वैमनस्य तथा विरोध में अपनी कुशलता समझने वाले अंग्रेज शासकों को सन् 1857 के संघर्ष में हिन्दू-मुसलमानों की एकता को देखकर घोर निराशा हुई।<sup>32</sup> रामविलास ने लिखा है कि इस महान संघर्ष में हिन्दुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर युद्ध किया था और इस तरह अपनी जातीय एकता को दृढ़ किया था।<sup>33</sup> इसलिए प्रिचार्ड जो सन् 1877 में राजस्थान में फौजी काम करने वाला एक अंग्रेज था; ने लिखा है कि "हम सोचा करते थे कि हिन्दू और मुसलमान किसी भी तरह आपस में एका नहीं कर सकते।"<sup>34</sup> कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस विश्वास के विखण्डित होते ही अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू समस्या को जिस तरह उभारा, उससे वह उनकी 'फूट डालो और राज करो' की नीति का अभिन्न अंग बन गई।<sup>35</sup>

इसका अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेज या अन्य यूरोपियन सन् सत्तावन के संघर्ष से पूर्व हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम कर रहे थे। वास्तव में; उनके अलगाववादी प्रयास काफी पहले से प्रारम्भ हो चुके थे। तॉसी ने, जिसे हम हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहासकार होने का श्रेय देते रहे हैं, अपने ग्रन्थ में हिन्दी (एन्दुई) और हिन्दुस्तानी (एँदूस्तानी) के भेद को विशेषतः रेखांकित ही नहीं किया अपितु देवनागरी लिपि पर भी, अत्यन्त विद्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ की।<sup>36</sup> वीम्स ने बोलचाल की भाषा को अरबी-फारसी के कोश से समृद्ध करने का आग्रह किया इस बात को रामविलास जी ने इस प्रसंग में उद्धृत किया है।<sup>37</sup> और इसी तरह ग्रियर्सन के इस सम्बन्ध में योगदान के बारे में उन्होंने लिखा है कि "ग्रियर्सन ने मानो यह तै कर लिया था कि हिन्दी-उर्दू का सम्बन्ध हिन्दू-धर्म और इस्लाम से जोड़ेंगे ही।"<sup>38</sup> इस वाक्य में 'जोड़ेंगे ही' शब्द से जो ध्वनि निकलती है, वह ध्यान देने योग्य है। यही नहीं; विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने 'अकबर द ग्रेट मुगल' नाम से प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ में भी जहाँ-जहाँ साहित्य, भाषा, कला आदि की चर्चा की है; वहाँ उन्हें अक्सर हिन्दू-कला, मुसलिम-कला अथवा इनके मिश्रण से बनी हुई कला ही कहा है; हिन्दुस्तानी कला नहीं। यह बात रामविलास जी ने विशेषतः रेखांकित की है।<sup>39</sup> इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी भाषी क्षेत्र की जनता के अन्तःकरण को किस गहराई तक बाँट देने की दुरभिसन्धि अंग्रेजों के द्वारा सम्पन्न हुई।

इन तमाम तथ्यों के आधार पर रामविलास जी ने अत्यन्त क्षोभ के साथ लिखा है कि 'अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यहाँ एकता के तत्त्वों को बराबर दबाने की कोशिश की और अलगाव के तत्त्वों को भरसक बढ़ावा दिया। जिन हिन्दुओं और मुसलमानों ने मध्यकालीन धर्म की खाई को पाट लिया था और हर प्रदेश में एक संयुक्त जातीयता का विकास किया था वे शब्दावली और लिपि के भेद को भी अवश्य ही दूर कर लेते और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करते; लेकिन अंग्रेजों ने इन सम्भावनाओं को खत्म कर दिया।'<sup>40</sup>

स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू इन दोनों शैलियों को दो जातियों की भाषा का रूप देकर इन भाषाओं का जातीय उत्पीड़न के साधन के रूप में दुरुपयोग इस सीमा तक किया कि आगे चलकर उर्दू और हिन्दी एक ही खड़ी बोली की दो शैलियाँ हैं; यह विश्वास करना बहुतों के लिए कठिन बात हो गई। इस काम को करने में अंग्रेजों ने बीम्स के सुझावों को क्रियान्वित किया जिसके परिणाम स्वरूप जिस उर्दू में कभी केवल पाँच-छह प्रतिशत शब्द अरबी-फारसी के थे सन् 1947 के आस-पास ये पच्चासी प्रतिशत तक जा पहुँचे।<sup>41</sup>

×××

रामविलास जी ने अपने जीवन में जो बहुत बड़े स्वप्न देखे थे उनमें से एक था हिन्दी जाति का निर्माण। और इस स्वप्न को साकार करने के मार्ग में उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती हिन्दी-उर्दू के इस अलगाव को पाटने की थी। हिन्दी-उर्दू की एकता उनके लिए राजनीति का नहीं; राष्ट्रनीति का मुद्दा था। आस्था का प्रश्न थाकोरी नीति भर नहीं। यही कारण था कि उन्होंने अपने सामर्थ्य का एक बहुत बड़ा भाग इस चुनौती से पार पाने पर व्यय किया। रामविलास जी का निभ्रान्त मत था कि यह एकता हिन्दी भाषी क्षेत्र के ऐतिहासिक विकास क्रम की स्वाभाविक माँग है।<sup>42</sup> उनका तर्क था कि भारत के हर जातीय प्रदेश की भाषा और लिपि एक हो, लेकिन हिन्दी-प्रदेश की दो लिपियाँ और दो भाषाएँ हों; यह सम्भव नहीं।<sup>43</sup> क्योंकि उनकी दृष्टि में एक भाषा और एक लिपि का चलन जातीय विकास के लिए एक अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता थी।<sup>44</sup>

हिन्दी जाति के निर्माण की इस संकल्पना को साकार करने की पूर्व पीठिका के रूप में रामविलास जी ने हिन्दू-उर्दू की एकता पर अपनी शक्ति लगाई यह बात हम पहले कह चुके हैं। किन्तु इस प्रयास के दौरान एक और बात स्पष्ट रूप से उनके ध्यान में आई; वह यह कि हिन्दू-उर्दू का अलगाव इतना ज्यादा न होता यदि दोनों की लिपि एक ही रहती।<sup>45</sup>

यहाँ प्रसंगवश यह बात उल्लेखनीय है कि हमारे हिन्दी-प्रदेश की काव्य-भाषा में गत एक हजार साल में दो बार आमूलचूल परिवर्तन घटित हुआ पहली बार तब;

जब ब्रजभाषा काव्य-भाषा बनीं और दूसरी बार उस समय जब ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ग्रहण किया। यदि हम हिन्दी-भाषी क्षेत्र की काव्य-भाषा में आए इन परिवर्तनों को उत्तर-भारत के तदुद्युगीन राजनीतिक घटनाक्रम के समानान्तर रखकर देखें तो दोनों में एक आश्चर्यजनक अन्तःसम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी-साहित्य की आरम्भिक शताब्दियों में चन्दबरदायी से लेकर कबीर पर्यन्त जिस काव्य-भाषा का व्यवहार हुआ उसमें खड़ी बोली और राजस्थानी का स्पष्टतः प्राधान्य था। ध्यान देने की बात यह है कि इन शताब्दियों में उत्तर भारत में राजनीतिक हलचलों के प्रधान केन्द्र दिल्ली और अजमेर थे। इनमें से एक दिल्ली; खड़ी बोली का मुख्य-केन्द्र और दूसरा-अजमेर; राजस्थानी के महत्त्वपूर्ण केन्द्रों में से एक।

कालान्तर में अकबर ने अपनी राजधानी आगरा में बनाई जिससे उत्तर भारत की राजनीतिक हलचलों का केन्द्र दिल्ली के स्थान पर आगरा हो गया। यही वह समय था जब 'ब्रजभाषा' को हिन्दी की काव्य-भाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। भक्ति-काल और रीतिकाल का साहित्य प्रधानतः इसी ब्रजभाषा में रचा गया। यद्यपि भक्तिकाल के दो मूर्धन्य कवियों तुलसी और जायसी ने अपने कालजयी प्रबन्ध अवधी में लिखे किन्तु इससे ब्रजभाषा का प्रभाव-विस्तार यथावत् रहा, जिसे तुलसी और अन्य कवियों के ब्रज-साहित्य में अनुभव किया जा सकता है। रीतिकाल में तो ब्रजभाषा केवल हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं; अपितु पंजाब, सिन्ध आदि सुदूर क्षेत्रों में भी काव्य-भाषा बनीं।

आगे चलकर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद जब अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बंगाल के स्थान पर दिल्ली को बनाया; तब फिर खड़ी-बोली ने साहित्यिक-भाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। रामविलास जी ने जातीय भाषा के रूप में हिन्दी क्षेत्र में खड़ी बोली की स्वीकृति के पीछे इस बात को महत्त्वपूर्ण माना है कि "हिन्दी-भाषी प्रदेश में दिल्ली व्यापार और राजनीतिक जीवन का केन्द्र रहा। वह खड़ी बोली बोलने वाले प्रदेश का केन्द्रीय नगर था।"<sup>46</sup> अस्तु।

किन्तु, इस बीच एक घटना और घटित हुई जिसका कोई दृश्यमान-प्रभाव हिन्दी काव्य-भाषा के रूप पर नहीं पड़ा। यह घटना थी सन् 1635 में शाहजहाँ द्वारा आगरा के स्थान पर दिल्ली को मुगल-साम्राज्य की राजधानी बनाया जाना। उपर्युक्त घटनाक्रम को देखते हुए इसी कालखण्ड में दिल्ली और उसके आसपास की बोलीखड़ी बोलीको हिन्दी की साहित्यिक भाषा बन जाना चाहिए था। किन्तु हमने देखा कि खड़ी बोली सन् 1850 के आसपास जाकर उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा बन पाई। ऐसा क्यों हुआ? इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि शाहजहाँ के समय में 'जबाने देहली' अर्थात् खड़ी बोली काव्य-भाषा बनी तो; किन्तु 'शाहजहानी उर्दू' के नाम से फारसी-लिबास में पुनर्गठित होकर। रामविलास जी के

अनुसार इसका यह नया रूप अपने संकुचित सामन्ती आधार के कारण आवाम में सर्वग्राही न हो सका।<sup>47</sup> हाँ; यदि शाहजहाँ के समय में इस जबाने देहली ने देवनागरी लिपि अपनाई होती तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में खड़ी बोली की कविता का श्रीगणेश सन् 1650 के आसपास अवश्य ही हो जाता। लगता ऐसा है कि हिन्दुस्तान की आवाम ने फारसी-भाषा और लिपि को केवल आजीविका आदि के सीमित सन्दर्भ में ही स्वीकार कियाकाव्य-लेखन जैसे सर्जनात्मक सन्दर्भों में नहीं। 'पढ़े फारसी बेचे तेल' जैसी कहावतें इन्हीं दिनों की स्मृति अपने अंक में समेटे हुए हैं।

इस तरह, यह तो ठीक है कि फारसी-लिपि और शब्दावली के आग्रह के कारण, शाहजहाँ द्वारा किए गए इस 'राजधानी परिवर्तन' ने हिन्दी-भाषी क्षेत्र की काव्य-भाषा में 'भाषा के रूप' परिवर्तन का वैसा दृश्य उपस्थित नहीं कियाजैसा अकबर के समय या बाद में सन् 1857 के आसपास हुआ किन्तु विषय-वस्तु और कवि-रुचि की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि भक्ति कालीन प्रेमानुभव और लोकोन्मुखी करुणा के स्थान पर सन् 1650 के आसपास ब्रजभाषा-काव्य में जिस तरह से लौकिक आसक्ति, अनुरक्ति, रूप-सौन्दर्य-वर्णन और शृंगार-भावनाओं का उद्गम प्रकाशन आरम्भ हुआउसपर दिल्ली दरबार के भोग-विलास और वैभव की सघन-छाया प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि 'सन्तन कहा सीकरी सौं काम' कहकर राज-दरबारों के प्रति उपेक्षा भाव रखने वाले ब्रजभाषा के भक्त-कवियों का आदर्श निभाने के स्थान पर इस काल के कवियों का आकर्षण क्रमशः राजदरबारों की ओर बढ़ता गया। इन्हीं दोनों कारणों से ब्रजभाषा में निबद्ध होकर भी हिन्दी के रीतिकालीन काव्य की आत्मा भक्तिकालीन काव्य से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ यह बात याद दिलाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि लौकिक प्रेम-रूप और शृंगार वर्णन के साथ-साथ राजश्रयता उर्दू के नाम से आरम्भ हुई काव्य-परम्परा की प्रधान-प्रवृत्तियाँ रही हैं। इस तरह स्पष्ट है कि सन् 1650 से सन् 1850 के आस-पास तक सूक्ष्म तात्त्विक धरातल पर हिन्दी और उर्दू के साहित्य में एक गहरी अभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि इनका देश-काल और सामान्य सामाजिक आधार समान था, एक था।

जहाँ तक इन दोनों में दृश्यमान भेद का प्रश्न है तो इसका श्रेय रामविलास जी ने 'आवाम' की जबानसरल उर्दू को नहीं; अपितु उस दरबारी उर्दू को दिया है जो फारसी मिश्रित और इसलिए इस आवाम के लिए कठिन है।<sup>48</sup> और जिसके कारण बाद की उर्दू का शब्द भण्डार जायसी, कबीर ही नहीं; बन्दानवाज और वजही के शब्द-भण्डार से अलग हो जाता है।<sup>49</sup> रामविलास जी के अनुसार हिन्दी-उर्दू में पैदा हुए इस भेदभाव के दो प्रधान कारण हैं एक मतरूकात का सिद्धान्त और दूसरा हिन्दीपन के स्थान पर फारसीपन को अतिरिक्त महत्त्व दिया जाना।<sup>50</sup>

रामविलास जी ने हिन्दी-उर्दू की एकता में सबसे कठिन चुनौती फारसी लिपि के व्यवहार की माना है; यह संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में हिन्दी-उर्दू की दो लिपियों का चलन क्यों हुआ? इस प्रश्न पर रामविलास जी ने विस्तार से विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि “इसका कारण भाषा के क्षेत्र की तरह यहाँ (लिपि के क्षेत्र में) भी ईरानी-संस्कृति का प्रभाव था।”<sup>51</sup> इसी क्रम में उनका ध्यान देवनागरी लिपि के साथ-साथ सिन्धी, कश्मीरी, पंजाबी लिपियों की ओर भी गया। वे इस बात से गहरी बेचैनी अनुभव करते हैं कि ‘कश्मीर, पंजाब, सिन्ध और हिन्दुस्तान (हिन्दी भाषी क्षेत्र) उत्तर भारत के इन प्रदेशों में अरबी-फारसी लिपियों ने यहाँ की लिपियों को अपदस्थ करके उनका स्थान लेने का यत्न किया।<sup>52</sup>

वस्तुतः रामविलास जी केवल विभिन्न भाषाओं के विकास के ही पक्षधर न थे; अपितु वे उनकी लिपियों के संरक्षण को भी महत्त्वपूर्ण मानते थे। इसका कारण यह था कि लिपियाँ उनकी दृष्टि में जातीय-संस्कृति का अभिन्न अंग थीं।<sup>53</sup> इसीलिए कश्मीर की शारदा लिपि के साथ सिन्धी, देवनागरी आदि लिपियों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे इन लिपियों के प्रति वे कितनी गहरी-संवेदना से आप्लावित थे; यह बात ध्यान में आती है। शारदा के विषय में उनके शब्द हैं

“स्वाधीन भारत के अभिन्न अंग कश्मीर में शिक्षा का माध्यम कश्मीरी नहीं है। जब कश्मीरी भाषा का व्यवहार किया जाता है; तब शारदा लिपि की पूछ नहीं होती। क्रमशः न केवल शारदा लिपि को वरन् कश्मीरी भाषा को भी शिक्षा और राजनीतिक क्षेत्रों से निकाल दिया गया है। किसी जाति की भाषायी और सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने की ऐसी मिसालें बीसवीं सदी में कम ही मिलेंगी।”<sup>54</sup> इसी क्रम में, रामविलास जी यह याद दिलाना नहीं भूलते कि कश्मीरी की स्वर-व्यवस्था संस्कृत से काफी भिन्न और हिन्दी की स्वर-व्यवस्था से पर्याप्त जटिल है।<sup>55</sup>

वस्तुतः लिपि की विकास-यात्रा का गहरा सम्बन्ध सदैव सामाजिक विकास-यात्रा के साथ रहा है। कोई भी समाज अपनी प्रकृत-उच्चारण-व्यवस्था के अनुसार ही अपनी ध्वनियों को पहचानता और चिह्नित करना है। कदाचित् इसीलिए ग्रियर्सन ने अपने सर्वेक्षण-ग्रन्थ के 8वें खण्ड के दूसरे भाग में दरद भाषाओं के विवेचन के क्रम में यह बात स्वीकार की है कि कश्मीरी स्वरों के लिए केवल शारदा लिपि ही ऐसी है जिसमें सभी चिह्न मौजूद हैं।<sup>56</sup> रामविलास जी को कश्मीरी की ऐसी समर्थ और सम्पूर्ण लिपिशारदा का कश्मीर से विस्थापित होनासांस्कृतिक दृष्टि से इतना दुर्भाग्यपूर्ण क्यों लगता है? यह यहाँ स्पष्ट है। ऊपर के उदाहरण में रामविलास जी ने इस ओर विशेष रूप से ध्यानाकर्षित किया है कि भारत में जैसे-जैसे अंग्रेजी राज सुदृढ़ हुआ वैसे-वैसे कश्मीर में शारदा लिपि का व्यवहार भी कम होता गया।<sup>57</sup>

लिपियों के विनाश के द्वारा जातीय सांस्कृतिक-विरासत के विनाश का सबसे भीषण दृश्य हमें सिन्ध में देखने को मिलता है जहाँ सिन्धी भाषा की मूल लिपि को स्वयं सिन्धी-भाषी ही लगभग पूरी तरह विस्मृत कर चुके हैं। कराची के पास भम्भोर और मध्य सिन्ध के ब्राह्मणावाद की पुरातात्विक खुदाई से प्राप्त-छठी-सातवीं सदी के अवशेषों में जो लिखावट मिली है वह ब्राह्मी लिपि से मिलती है।<sup>58</sup> और इस तरह कम-से-कम ग्यारहवीं शती तक अलबेरुनी के इस कथन से कि ‘सिन्ध में शिरोरेखा से लटके अक्षर लिख जाते थे जिनकी लिखावट बाई से दाहिनी ओर की चलती थी।<sup>59</sup> इस बात की पुष्टि होती है कि यह लिपि देवनागरी की सगोत्री थी। सन् 1853 ई. तक सिन्धी भाषा के पारम्परिक उत्तराधिकारी ‘हट-वाणिको’ के नाम से ऐसी ही किसी लिपि का उपयोग करते रहे। साथ ही कहीं-कहीं गुरुमुखी और मतान्तरित मुसलमानों में फारसी लिपि का चलन था; किन्तु सन् 1853 ई. में सिन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्कालीन असिस्टेंट कमिश्नर मि. एलिस की अध्यक्षता में बनी कमेटी ने मुसलमानों की अधिक जनसंख्या के कारण सिन्धी के लिए अरबी-फारसी लिपि में आवश्यक संशोधन कर बावन अक्षरों वाली एक लिपि तैयार कराके आधिकारिक रूप से प्रचलित की जो ‘अरबी-सिन्धी’ के नाम से जानी गई।<sup>60</sup> इस लिपि के बारे में सिन्धी के विद्वान् श्री कृष्णचन्द्र टोपणमल जैतली ने लिखा है कि ‘कुछ अरबी के और कुछ फारसी लिपि के वर्ण लेकर एक तीसरी ही विचित्र लिपि निर्माण की गई जिसका नाम रखा गया ‘अरबी-सिन्धी लिपि’। उनके अनुसार आज यदि सिन्धी की अनेक ध्वनियों का ठीक उच्चारण कर पाना कठिन हो रहा है तो उसका एक बड़ा कारण यह विकृत लिपि है।<sup>61</sup>

सम्भवतः यह बात रामविलास जी के ध्यान में थी कि अरबी-फारसी के संयोग से बनी यह ‘अरबी-सिन्धी लिपि’ सिन्धी भाषा के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः उन्होंने ग्रियर्सन के इस मत का कि ‘सिन्धी और कश्मीरी दोनों दरद क्षेत्र की भाषाएँ हैं और दरद क्षेत्र की विशेषता है ईरानी का प्रभाव।’ का सविस्तार विश्लेषण कर दिखाया कि सिन्धी में सघोष महाप्राण ध्वनियों का व्यवहार; अल्पप्राण ध्वनियों में बदल देने की प्रवृत्ति, मूर्धन्य ध्वनियों की प्रधानता और म् और न् के अलावा ड्, ज्, ण् जैसी नासिक्य ध्वनियों के प्रयोग की प्रचुरता ईरानी भाषाओं से सिन्धी के मौलिक अन्तर को प्रकट करने वाली है।<sup>62</sup> वे लिखते हैं कि अवेस्ता की एक भाषा पहलवी और फारसी में मूर्धन्य ध्वनियों का सामान्य अभाव है।<sup>63</sup> ऐसी स्थिति में; श्री कृष्णचन्द्र टोपणमल जैतली की ऊपर दी गई टिप्पणी उचित प्रतीत होती है।

जहाँ तक देवनागरी का प्रश्न है तो रामविलास जी लिखते हैं कि “हिन्दुस्तान’ में कश्मीरी लिपि शारदा की तरह देवनागरी का लोप नहीं हुआ।’ उनकी दृष्टि में; इसका कारण इस क्षेत्र की जनता द्वारा किया गया सांस्कृतिक-प्रतिरोध था।<sup>64</sup> उनका निर्भ्रान्त मत है कि ‘हिन्दुस्तान के लोगों ने फारसीयत के दबाव के विरुद्ध अपनी

भाषा के साथ; अपनी लिपि की भी रक्षा की; और यह कोई बुरा काम नहीं था।<sup>65</sup> उनका प्रश्न है कि...आखिर यहाँ के लोग अपनी लिपि छोड़कर, दूसरों की लिपि क्यों अपनाते?<sup>66</sup> वे ओजस्वी वाणी में स्वीकार करते हैं कि 'छह सौ साल तक फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी देवनागरी मिटी नहीं; इस बात पर हम गर्व करते हैं।'<sup>67</sup>

रामविलास जी की यह ओजस्विता हिन्दी के कई नामवरों को हतप्रभ करने का कारण बनती रही है।<sup>68</sup> रामविलास जी ने भारत-भक्ति के अपने हृदयगत संस्कार को प्रगट होने देने में भी संकोच अनुभव नहीं किया। फारसी लिपि द्वारा भारतीय लिपियों के विस्थापन के इस प्रसंग में रामविलास जी ने पंजाब की गुरुमुखी लिपि की चर्चा अलग से नहीं की है। फिर भी इतना तय है कि गुरुमुखी लिपि के रक्षार्थ पंजाब की जनता भी देवनागरी क्षेत्र की जनता की तरह फारसी का सांस्कृतिक प्रतिरोध करने में पीछे नहीं रही। गुरु अंगदराय जी ने पंजाब की प्राचीन लिपि के प्रयोग का ऐसा भावात्मक आग्रह उत्पन्न किया कि वह अपनी पुरानी पहचान को भुलाकर केवल 'गुरुमुखी' ही रह गई। पंजाब की लिपि 'गुरुमुखी' को नाम के कारण अनेक लोग सिक्ख गुरुओं द्वारा प्रवर्तित समझते हैं, किन्तु सत्य यह है कि सिन्धी, शारदा, गुरुमुखी और देवनागरी इन सभी लिपियों का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है; जिससे इनकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध है।

इसी तरह, रामविलास जी ने 19वीं सदी के हिन्दी-आन्दोलन को एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है।<sup>69</sup> हिन्दी के प्रति अपने हृदय में अडिग-निष्ठा रखते हुए भी वे उर्दू को परायी नहीं मानते थे। उन्होंने अनेक बार और अनेक प्रकार से यह कहा है कि 'उर्दू अलग किसी कौम की भाषा नहीं है। वह सांस्कृतिक अल्पसंख्याकों की साहित्यिक भाषा है। इसलिए उसे पढ़ने-पढ़ाने और उसका व्यवहार करने की सुविधा मिलनी चाहिए।'<sup>70</sup> वे यहाँ तक नहीं रुके; अपितु उन्होंने जोर देकर कहा कि उर्दू के संरक्षण की माँग विशुद्ध साम्प्रदायिक माँग नहीं है।<sup>71</sup>

रामविलास जी ने जिस तरह हिन्दी वालों को समझाया कि उर्दू परायी नहीं है उसी तरह 'हिन्दी-जाति' क्षेत्र के भाषिक अलगाव को दूर करने के लिए उर्दू वालों को भी अनेक सुझाव दिए ताकि परस्पर संवाद और निर्भरता से सद्भाव सृष्ट हो और जातीय-एकता तथा राष्ट्रीय एकात्मता दोनों को पुष्ट करे। वस्तुतः रामविलास जी को बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध 'हिन्दी भाषा की भूमिका' का यह अंश व्यथित किए हुए था कि 'जो लोग उर्दू के अच्छे कवि और ज्ञाता हैं, वे हिन्दी की ओर ध्यान देना कुछ आवश्यक नहीं समझते। इसी से देवनागरी अक्षर भी नहीं सीखते और भारतवर्ष के साहित्य से निरे अनभिज्ञ हैं। वे अरब और फारस के साहित्य की ओर खिंचते हैं; साथ-साथ भारतवर्ष के साहित्य से घृणा करते और जी चुराते हैं।'<sup>72</sup> इस तरह; अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से इस देश की भाषा और धर्म को जातीय-विघटन

और उत्पीड़न का साधन बनाने की जो कोशिशें कीं मुसलमान उनमें उलझते चले गए।<sup>73</sup> यह बात रामविलास जी से छिपी न थी। अंग्रेजों और उनके कथित मित्र देशी सामन्तों-नबाबों की जो भूमिका इस हिन्दी प्रदेश के हिन्दू और मुसलमानों में सांस्कृतिक और भाषागत अलगाव पैदा करने में रही; वह उनके ध्यान में थीं।<sup>74</sup>

जैसाकि हमने पूर्व में संकेत किया कि अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू को क्रमशः हिन्दू-धर्म और मुस्लिम-धर्म से सम्बद्ध कहकर प्रचारित किया, यह उनकी भेद नीति का प्रमुख हथकण्डा था। रामविलास जी ने देवनागरी के व्यवहार में धर्म-सम्बन्ध से संकोच करने वालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि देवनागरी न किसी नस्ल की लिपि है, न किसी धर्म-विशेष की। उनका कहना था 'भारत के सभी राज्यों में हिन्दू बसे हुए हैं लेकिन उनकी लिपि एक नहीं है। इसीलिए यदि मुसलमान उर्दू लिपि की जगह देवनागरी का व्यवहार करें तो इससे उनके धर्म पर आँच न आएगी। आँच आएगी ईरान के सांस्कृतिक प्रभाव पर जिसे कुछ लोगों ने धर्म से जोड़ रखा है।'<sup>75</sup> उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि जो लोग फारसी के शब्दों को इस्लामी-संस्कृति का अभिन्न अंग समझकर अपनी भाषा में सजाते हैं; वे अक्सर अनजान में काफिर शब्दों को ही सम्मान देते हैं। जब वे हफ्ते को उच्च शब्द और सप्त या सत को नीच शब्द समझते हैं, तब वे यही सिद्ध करते हैं कि वे इस्लाम नहीं; ईरानी संस्कृति के गुलाम हैं।<sup>76</sup> भाषा की तरह ही उन्होंने लिपि के सम्बन्ध में भी उदाहरण सहित दिखाया कि फारसी लिपि और अरबी लिपि एक नहीं है। उन्हीं के शब्द हैं 'अरबी लिपि और वर्णमाला में पे नहीं हैं, चे नहीं है, डाल नहीं है; डे नहीं है, लेकिन अब वे अक्षर (भारत की) इस्लामी लिपि में शामिल हैं।'<sup>77</sup> इस तरह उनका निर्णय था कि यदि लोग इस बात को समझ लें कि उर्दू में जिन फारसी-अरबी शब्दों के लिए इतना आग्रह है; वे इस्लाम धर्म की विशेष सम्पत्ति नहीं हैं तो वे शायद भारत की अन्य भाषाओं की तरह उर्दू का भी विकास करें और हिन्दी तथा संस्कृत-शब्दों से इतना परहेज न करें।<sup>78</sup> इस क्रम में उन्होंने सन् 1928 ई. में 'कुर्आन मजीद' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने वाले ख्वाजा हसन निजामी द्वारा लिखी गई इस ग्रन्थ की भूमिका से इन पंक्तियों को विशेषतः उद्धृत किया 'जिन देशी रियासतों ने हिन्दी जबान को सरकारी जबान बना दिया है उन रियासतों के वाशिन्दे मुसलमानों की अरबी से शब्द लेने और संस्कृत शब्दों को मतरूक समझने की नीति भी गलत है। भारत की सभी भाषाएँ प्रायः संस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली बनाती हैं। उर्दू इन सब भाषाओं से न्यारी रहकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती।'<sup>79</sup>

इस सम्पूर्ण विवरण से यह बात पता चलती है कि रामविलास जी हिन्दू-उर्दू की एकता को लेकर कितना अधिक गम्भीर थे। यदि यहाँ यह कहें कि हिन्दी-उर्दू की एकता के लिए जितना बौद्धिक-श्रम उन्होंने किया; वह अपूर्व और अद्वितीय है तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। उन्होंने पूरी प्रामाणिकता और आत्मीयता के साथ

उन तमाम बिन्दुओं पर विचार किया, जो इस भाषिक-एकात्मता के लिए उन्हें अपरिहार्य लगे; परन्तु इस सारे प्रयास में भारत की ओजस्विता और आत्मसम्मान को उन्होंने एक क्षण के लिए भी दुर्लक्ष्य नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि 'भारत की सभी जातियों में हमारी जाति सबसे बड़ी है! यह निर्विवाद है। ऐसी स्थिति में हमारी भाषा का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। ...अतः हिन्दू-उर्दू को एक होना चाहिए यह हमारे ऐतिहासिक विकास की माँग है।<sup>80</sup> यह समझना आवश्यक है कि हिन्दू-उर्दू का अलगाव हमारे जातीय विकास के लिए घातक है।<sup>81</sup> स्पष्ट है कि वे अपने इस सारे प्रयास का सुफल एक शक्ति सम्पन्न भारत के निर्माण में मानते हैं और इसीलिए वे इस सन्दर्भ में ऐसी कुछ सच्चाइयों की अनदेखी भी करते हैं जिनको दिनकर और हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।

दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि 'मुसलमान की कठिनाई यह है कि जमाने से उसे यह सिखाया गया है कि जिस देश पर मुसलमानों का राज्य नहीं है; उस देश को दारुल-हरब यानि शत्रुओं का देश समझा जाना चाहिए। अतएव, देशभक्ति और धर्मभक्ति को एक करके चलने में मुसलमान को कठिनाई होती है। आम लोगों का ख्याल है कि जिस देश का शासन इस्लामी कानून से नहीं चलता, उस देश में बसने वाला मुसलमान प्रच्छन्न विद्रोही बनकर जीता है।'<sup>82</sup> इसी तरह, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' की परिस्थिति का आकलन करते हुए मध्यकालीन भारतीय समाज के बारे में लिखा है कि भारतीय समाज जातिगत विशेषता (सुरक्षित) रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था; किन्तु इस्लाम जातिगत विशेषता को लोप करके समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्र-बिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत।<sup>83</sup>

द्विवेदी जी आगे लिखते हैं कि 'मध्यकाल में भारतीयों में जिस आचार-प्रधान 'एक धर्म' मत का प्रचार था; उसके मूल में ही सबको स्वीकार करने का सिद्धान्त काम कर रहा था। कबीर के समय में जिस (इस्लाम जैसे) प्रतिद्वन्द्वी से भारतीय समाज का पाला पड़ा था "वह बहुत ही वर्जनाग्रही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था।"<sup>84</sup> ऐसी स्थिति में मुसलमानों द्वारा उर्दू में से संस्कृत और हिन्दी के शब्दों का आग्रहपूर्वक बहिष्कार कहीं उनके इसी विद्रोही और वर्जनाग्रही स्वभाव का परिणाम तो नहीं है? रामविलास जी ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। यहाँ यह बात एक क्षण के लिए भी दुर्लक्ष्य किए जाने योग्य नहीं है कि इस तरह कोई भी प्रश्न अविचारित तो रह सकता है; किन्तु वह भर नहीं जाता; अपितु अपने ठीक उत्तर की प्रतीक्षा करता रहता है। कदाचित् इसीलिए रामविलास जी ने उर्दू वालों को हिन्दू-उर्दू की एकता की दृष्टि से ये जो सुझाव दिए हैं कि 1.

"अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को कायम रखते हुए उर्दू में सिर्फ उन्हीं से शब्द लेने की रुझान कम करनी चाहिए, 2. यह ध्यान रखना होगा कि यहाँ की भाषाएँ जिस तरह संस्कृत से शब्द उधार ले सकती हैं; उसी तरह अरबी-फारसी से नहीं, 3. आसान उर्दू की परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिए; और 4. उर्दू के साहित्य को नागरी अक्षरों में हिन्दी जानने वाली जनता तक पहुँचाया जाना चाहिए।"<sup>85</sup> हिन्दी भाषी क्षेत्र की एकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होकर भी ये सुझाव अभी तक अपने ऊपर अमल किए जाने के उचित-समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

रामविलास जी का अनुभव यह था कि "सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ हिन्दी-उर्दू को बराबर एक-दूसरे के नजदीक लाती रही हैं। ...आज जो अलगाव की भावनाएँ हैं उनका सामाजिक आधार तेजी से नष्ट हो रहा है। एकता का विशाल सामाजिक आधार दिन पर दिन शक्तिशाली बन रहा है। ...इस वातावरण में बोलचाल की भाषा के एक साहित्यिक रूप के विकसित होने की बहुत बड़ी सम्भावना है; क्योंकि अभी जो शक्ति दो रूपों में बिखरी हुई है, वह जब केन्द्रित होकर एक सामान्य रूप को सँवारेगी तब हिन्दुस्तानी जाति का साहित्य सारे देश को चमत्कृत कर देगा।"<sup>86</sup> आने वाले समय में हिन्दी भाषी क्षेत्र में उनका यह अनुभव व्यापकता से प्रत्यक्ष हो, हमारी यही कामना है।

### सन्दर्भ :

1. डॉ. रामविलास शर्मा ने एक भाषा-भाषी समाज को एक जाति कहा है, जैसेबंगला जाति, हिन्दी जाति आदि इस दृष्टि से यह शब्द अंग्रेजी के नेशनलिटी शब्द का समानार्थी है।
2. अक्षरा (त्रैमासिक) अंक :-71, में प्रकाशित-मेरा लेखराष्ट्रनिष्ठा का सन्दर्भ और डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ 24.
3. वही।
4. अपनी, धरतीअपने लोग-2, रामविलास शर्मा, पृष्ठ 186.
5. वही।
6. वही।
7. स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्यरामविलास शर्मा, 171.
8. भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँरामविलास शर्मा, पृष्ठ 55.
9. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 285.
10. वही।
11. भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँरामविलास शर्मा, पृष्ठ 310.
12. वही।
13. वही, पृष्ठ 284.

14. उर्दू साहित्य का इतिहासडॉ. एजाज हुसेन, पृष्ठ 5.
15. हिन्दी साहित्य का इतिहासआचार्य रामचन्द्र शुक्लदेखिए आदिकाल प्रकरण 2, पृष्ठ 11-12.
16. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 284.
17. वही, पृष्ठ 292.
18. वही, पृष्ठ 293.
19. वही, पृष्ठ 293.
20. वही, पृष्ठ 294.
21. उर्दू साहित्य का इतिहासडॉ. एजाज हुसेन, पृष्ठ 83.
22. वही, पृष्ठ 82.
23. वही, पृष्ठ 82.
24. Muslim Ethos by M. S. Jain, Page No. 27.
25. उर्दू साहित्य का इतिहासडॉ. एजाज हुसेन, पृष्ठ 7-8.
26. वही, पृष्ठ 7.
27. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 311.
28. वही, पृष्ठ 290.
29. वही, पृष्ठ 296.
30. वही,
31. (क) भारतीय साहित्य-दर्शन, डॉ. कृष्णलाल हंस पृष्ठ 137,  
(ख) उर्दू साहित्य का इतिहासडॉ. एजाज हुसेन, पृष्ठ 33.
32. हिस्ट्री ऑफ दी सिपोय वार इन इण्डिया, जॉन विलियम पृष्ठ 298.
33. (क) भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 319.  
(ख) सन् 1856 ईस्वी में मथुरा के जंगल में एक पंचायत हुई जिसमें स्वामी बिरजानन्द जी का भाषण हुआ। इस पंचायत का सारा विवरण वहाँ उपस्थित मीर मुस्ताक मिरासी ने इस तरह लिखा है : जब महात्मा बिरजानन्द को पालकी में बिठा कर लाया गया उस वक्त हिन्दू-मुसलमान फकीरों ने उनके आने की खुशी में शंख, घड़ियाल, नागफणि, निकाड़ा, तुरही और नरसिंघे बजाए और खुदा परस्ती और वतन परस्ती के गीत गाए। यह नावीना साधु गैर-इलम के समझने की ताकत रखता था और खुदा का जलवे-जुलाल इसकी जबान से जाहिर होता था। 1857 और स्वामी दयानन्द, लेखक वासुदेव शर्मा, पृष्ठ 24.
34. दी म्यूटिनीज इन राजपूतानाआई. टी. प्रिचार्ड, पृष्ठ 298.
35. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 319.
36. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, भूमिका, तासी, पृष्ठ 58. अनुवादक लक्ष्मीसागर वाणर्णय।
37. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 319.

38. वही, पृष्ठ 324.
39. भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेशरामविलास शर्मा, पृष्ठ 214.
40. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 310.
41. वही, पृष्ठ 285.
42. वही, पृष्ठ 331.
43. वही, पृष्ठ 332.
44. वही, पृष्ठ 310.
45. वही, पृष्ठ 302.
46. वही, पृष्ठ 272.
47. वही, पृष्ठ 296.
48. वही।
49. वही।
50. वही।
51. वही, पृष्ठ 302
52. वही।
53. वही, पृष्ठ 303.
54. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग-1रामविलास शर्मा, पृष्ठ 312-13.
55. वही, पृष्ठ 312.
56. वही, पृष्ठ 312.
57. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 313.
58. सिन्धी साहित्य के विविध आयामडॉ. मुरलीधर जेटली, पृष्ठ 21.
59. वही, पृष्ठ 20.
60. वही, पृष्ठ 22.
61. सिन्धी भाषा का संक्षिप्त परिचयकृष्णचन्द्र जेटली, पृष्ठ 166.
62. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग-1, रामविलास शर्मा, पृष्ठ 291-94.
63. वही, पृष्ठ 294.
64. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 302.
65. वही।
66. वही।
67. वही।
68. दृष्टव्य डॉ. रामविलास जी पर केन्द्रित आलोचना पत्र का सहस्राब्दी अंक 5.
69. वही, पृष्ठ 321.
70. वही, पृष्ठ 332.
71. वही।

72. वही, पृष्ठ 320.
73. वही, पृष्ठ 321.
74. वही, पृष्ठ 306.
75. वही, पृष्ठ 303.
76. वही, पृष्ठ 326.
77. वही, पृष्ठ 328.
78. वही, पृष्ठ 327.
79. वही, पृष्ठ 333 से उद्धृत।
80. वही, पृष्ठ 331.
81. वही,
82. संस्कृति के चार अध्यायरामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 335.
83. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, खण्ड-4, पृष्ठ 331.
84. वही, पृष्ठ 332.
85. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, रामविलास शर्मा, पृष्ठ 141-42.
86. भाषा और समाजरामविलास शर्मा, पृष्ठ 334.

## पुस्तक-चर्चा

# देह बन गई चंदन : भारतीय तत्वज्ञान और भक्ति का सामाजिक प्रयोग

मदनमोहन तरुण<sup>+</sup>

‘देह बन गई चन्दन’ मराठी उपन्यास ‘देह झाला चन्दना चा’ का हिन्दी अनुवाद है। यह जीवनी और उपन्यास की सूक्ष्म विभाजक रेखा के बीच विन्यस्त है। जीवनी किसी व्यक्ति के अतीत का जहाँ संक्षिप्त या विस्तृत प्रत्याह्वान है, वहीं उपन्यास उसके जीवन का, उसकी परिवेशगत समग्रता में पुनःसर्जन है।

जीवनी में जहाँ सम्बद्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व के विधायक घटकों का विवरणात्मक विस्तार होता है, वहीं उपन्यासकार उन तथ्यों का सर्जनात्मक उपयोग करता है। उपन्यास का पात्र जीवनी की तुलना में अधिक पूर्ण, विश्वसनीय और सम्प्रेष्य होता है। जीवनी जहाँ रेखिक चित्रण है, वहीं उपन्यास जीवन के वैविध्यपूर्ण रंगों से भरपूर एक समग्र पेण्टिंग। उपन्यास में वर्णित चरित्र अपने गलियों, मुहल्ले, लोग, शोर-कोलाहल, रूप, रस, गन्ध सबके बीच स्वाभाविक रूप से अपने वैचारिक और भावात्मक विशेषताओं के साथ विकसित होता हुआ, अपनी उपलब्धियों की पराकाष्ठा या पतन तक की यात्रा करता है। उपन्यास किसी चरित्र का पुनर्जन्म और अपनी समस्त विश्वसनीयता के साथ उसका समग्र जीवन है जिसे पाठक उसके एक सहयात्री के रूप में बनता और बिगड़ता हुआ देखता चलता है। लेखक की दृष्टि जितनी गहन होगी; उसका ग्राहकीय अंतराकाश जितना ही विशद होगा; उसका संवेदन संस्पर्श जितना ही जाग्रत होगा; वह उस चरित्र को उतनी ही प्राणवत्ता और सूक्ष्मता से प्रस्तुत कर सकेगा।

इस उपन्यास के प्रारम्भ की प्रकाशकीय टिप्पणी में इसे ‘स्वाध्याय प्रणेता प. पू. पाण्डुरंग शास्त्री आठवले जी के जीवन-कार्य पर आधारभूत सत्याधिष्ठित उपन्यास’ कहा गया है। अपने इस वायदे को पूरा करने के लिए आवरण पृष्ठ के आरम्भ से अन्त तक तीस छायाचित्र भी दिए गए हैं, जो आठवले जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के महत्त्वपूर्ण क्षणों का चाक्षुष साक्षात्कार प्रस्तुत करते हैं।

\* लेखकराजेन्द्र खेर, अनुवादकडॉ. पद्माकर जोशी, विहंग प्रकाशन, पुणे-51

+ प्रोफेसर (डॉ.) मदनमोहन तरुण, तारुण्यम, 7-7 लक्ष्मण अपार्टमेंट, मुकाई नगर, खडकवासला सिंहगढ़ रोड, पुणे-411024

‘जीवन-कार्य पर आधारभूत सत्याधिष्ठित’ सृजनकर्म में लेखक के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह होती है कि कहीं सम्बद्ध चरित्र के कार्यों को उसकी समग्रता में समेटने के प्रयास में उसकी सृजनात्मकता न अवघातित हो जाए। विशेषकर, पाण्डुरंग शास्त्री आठवले जैसी विभूति पर लिखते हुए, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व में वैविध्यपूर्ण विशदता के साथ अनूठी मौलिकता है।

यह उपन्यास ‘ज्ञानयोग’ तथा ‘कर्मयोग’ शीर्षकों से दो खण्डों एवं सैंतीस उपशीर्षकों में विभाजित एवं दो परिशिष्टों के साथ छह सौ दस पृष्ठों में विन्यस्त है। उपन्यास का समारम्भ सन् 1954 के अक्टूबर महीने में जापान में ‘द्वितीय विश्व तत्त्वज्ञान परिषद्’ के आयोजन से होता है, जब पाण्डुरंग शास्त्री जी की अवस्था मात्र पैंतीस वर्ष की थी और वे यहाँ विश्व के अन्य सुप्रतिष्ठित दार्शनिकों एवं विद्वानों के बीच आमन्त्रित अभ्यागत थे। इस परिषद् में शास्त्री जी ने श्रीकृष्ण के अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान एवं समाजविज्ञान पर अपने वक्तव्य एवं तदुपरान्त लोगों की शंकाओं के निवारण से अपना गहरा प्रभाव छोड़ा था। उनके तत्त्वज्ञान से प्रभावित अमेरिका के मिस्टर काम्पटन ने उनके सामने एक लुभावना प्रस्ताव रखा था कि वे आगामी पाँच वर्षों तक अमेरिका में रहते हुए, अपने तत्त्वज्ञान की विशिष्ट अवधारणाओं पर काम करें, जिसके फलस्वरूप प्रतिवर्ष भारत के उनके निजी खाने में एक लाख रुपये जमा होते रहेंगे और अमेरिका में उनके रहने की और समस्त सुविधाओं की उत्तमोत्तम व्यवस्था की जाएगी। किन्तु, इस प्रस्ताव के साथ ही पाण्डुरंग शास्त्री जी के सामने अपने पिता श्री बैजनाथ शास्त्री की छवि उभरी। उन्हें लगा वे कह रहे हैं “पाण्डुरंग बेटा, मैंने तुम्हें विद्याविभूषित किया है। सुसंस्कृत किया है। उससे समाज लाभान्वित हो सके इसी उद्देश्य से मैंने यह ज्ञान एवं विद्या तुम्हें प्रदान की है।” इसके साथ ही शास्त्री जी के सामने अपने गाँव के रघोबा अछूत की छवि उभरी जो भारत के वैषम्य-जर्जर समाज में पशुओं से भी बदतर जीवन जी रहा था। अब उनके सामने से अमेरिका की तड़क-भड़क से भरी लुभावनी जिन्दगी गायब हो चुकी थी और उन्होंने एक संकल्प लिया “अपने देश में रह कर मैं यह काम करूँगा। अपनी मातृभूमि के सभी दुखियों और पीड़ितों को मैं सहारा देकर उनकी अस्मिता को जाग्रत करूँगा। यही नहीं उनको आत्मोद्धार का, आत्मोन्नति का मार्ग बताऊँगा। इस प्रभुकार्य में ही मैं अपने को समर्पित कर दूँगा। उसके लिए अथक परिश्रम करूँगा। लेकिन किसी से सहायता नहीं लूँगा।”

समाजोन्मुख भक्ति पर आधारित ‘स्वाध्याय’ के क्रान्तिजीवी उद्गाता श्री पाण्डुरंग शास्त्री आठवले की यह ज्योतिगाथा मराठी के पौराणिक विषयों के उपन्यासकार श्री राजेन्द्र खेर की प्रशंसनीय कृति है, जिसमें उनके शिक्षा, कृषि, परिवार, भक्ति, मूर्तिपूजा की महत्ता, पंचरंग क्रान्ति, मत्स्यगंधा, त्रिकालसंध्या, घर-मन्दिर आदि अनेक अनूठे प्रयोगों की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

उपन्यास का प्रथम भाग कथाविन्यास की दृष्टि से कहीं अधिक कलात्मक और चुस्त है। इस भाग में लेखक श्री पाण्डुरंग शास्त्री के व्यक्तित्व के विधायक तत्त्वों को उद्घाटित करता हुआ उसके क्रमशः विकास को गहराई से व्यंजित कर सका है।

इस उपन्यास के कथानायक श्री पाण्डुरंग शास्त्री आठवले अपनी प्रखरता से आई.सी.एस. कर अपार अधिकार सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकते थे, परन्तु उनके दादा और पिता की परम इच्छा थी कि वे भौतिक लाभ पर आधारित परम्परागत जीवन के विपरीत, ऐसी विभूति के रूप में संसार के सामने आएँ जिनका मस्तिष्क भारतीय तत्त्वज्ञान के आलोक से भास्वर हो और उनके माध्यम से भारत की वैदिक विचारधारा समस्त विश्व में सुप्रतिष्ठित हो सके। पाण्डुरंग शास्त्री ने उनकी इन अपेक्षाओं को कहीं आगे बढ़कर पूरा किया। उन्होंने कर्मयोग में भक्ति को शामिल कर अपनी वेद-विधृत विचारधारा ‘स्वाध्याय’ के माध्यम से शिक्षा, कृषि, वृक्षवृद्धि, घर-संसार, मन्दिर, धर्म आदि को नई परिभाषा देते हुए, समाज के अन्तिम आदमी तक आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता, परस्पर सहयोग पर आधारित मूल्यपरक जीवन का कोरा सन्देश ही नहीं पहुँचाया, अपने तदर्थक सूत्रों का सार्वजनिक जीवन में प्रयोग कर नवजीवन का मार्ग प्रशस्त किया।

उपन्यास के दूसरे भाग में प्रथम भाग के घनत्व की जगह उनके कार्यों, देश-विदेश में उसकी व्यापक स्वीकृति का विस्तार अधिक है। इससे इस कृति की औपन्यासिक सर्जनात्मकता स्थान-स्थान पर अपघातित भी हुई है, किन्तु विषय की माँग को देखते हुए, लेखक इसके लिए बाध्य था।

‘कर्मयोग’ शीर्षक से उपन्यास के दूसरे खण्ड का समारम्भ सहारा हवाई अड्डे पर सैकड़ों उपस्थित स्वाध्यायियों से होता है, जो मानवता के कल्याण के प्रति समर्पित कार्यों के लिए लंदन से ‘टेम्पलटन पुरस्कार’ प्राप्त कर लौटते हुए पण्डित पाण्डुरंग शास्त्री जी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रसंग के साथ ही लेखक उनके अनेक कार्यों का प्रत्याह्वान करता हुआ पाठक को उन दृश्य छवियों का साक्षात्कार कराता है जिसके अन्तर्गत उन्होंने ‘त्रिकालसंध्या, यज्ञ, तीर्थयात्रा, भक्तिफेरी जैसी बातों के साथ-साथ मत्स्यगंधा, अमृतालयम, वृक्षमन्दिर, श्रीदर्शनम, योगेश्वर भावकृषि जैसे अनेकानेक प्रयोग किए।’ यहाँ प्रयुक्त तीर्थ, यज्ञ आदि परम्परागत शब्दों के प्रयोग से यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वे अपने रूढ़ार्थ के वाचक हैं। सच तो यह है कि ये शब्द अपने नए अवतार में वैदिक विचारधारा, भारतीय तत्त्वज्ञान और भक्ति के मौलिकतम प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्होंने कहीं साम्यवादी अर्थशास्त्र की वत्सलता, कुतज्ञता और आत्म-साक्षात्कार पर आधारित विकल्प प्रस्तुत किया है, तो कहीं वे व्यक्ति, समाज और परिवार के नए दिशादर्शक बन गए हैं।

अपने अनूठे प्रयोगों की सफलता के लिए डिग्रीजीवी शिक्षा को बेकार मानते हुए एक नई शिक्षाप्रणाली की नींव डालते हुए उन्होंने 1957 में ‘तत्त्वज्ञान विद्यापीठ’ की स्थापना की।



श्री पाण्डुरंग शास्त्री सामाजिक क्रान्ति की अपेक्षा भावात्मक क्रान्ति पर बल देते हैं। उनकी शिक्षा-व्यवस्था से निकले युवक-युवतियों ने उनके प्रयोगों को दूर-दूर तक पहुँचाने में व्यापक सहयोग दिया।

अपने विद्यापीठ के युवकों के प्रति यह सम्बोधन उनके स्वाध्याय-दर्शन का निचोड़ है : 'इस समय वेदों, उपनिषदों, गीता के विचारों को आत्मसात किए युवक अगर निष्क्रिय बैठे रहे, तो वे अपने कर्तव्य को, दायित्व को भूल गए हैं, यही कहना होगा। फिर इतिहास, समाज और भगवान कोई उनको क्षमा नहीं करेगा। इसलिए आपलोगों को गाँवों-देहातों में पहुँच जाना चाहिए। क्योंकि भ्रान्त ईश्वरवादी लोगों में संसार को बदल डालने की क्षमता नहीं है। उसमें जड़वादियों को हटाने का साहस नहीं है। हर एक मन्दिर, मस्जिद और चर्च आदि स्थान जड़वाद में ही फँसे पड़े हैं। कई मन्दिर अपने चारों ओर साम्प्रदायिकता की दीवारें बनाकर निष्क्रिय बने बैठे हैं। उनकी बौद्धिक क्षमता समाप्त हो चुकी है। अपने मौलिक तत्त्वों की रक्षा करते हुए वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग के साथ समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करने का साहस उनमें नहीं है। उनके कारण धर्मवाद और ईश्वरवाद नष्ट होता जा रहा है।...अब तो वर्तमान में आप जैसे हर एक युवक को अगस्त्य बनने की आवश्यकता है। हर एक को अगस्त्य बनना चाहिए। जड़वाद के सागर के रेले को रोकने की क्षमता आप युवकों में ही है। अभक्त स्वयं तो गहरे खड्ड में गिरे पड़े हैं और दूसरों को भी गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं। उस कार्य के लिए आपलोग अगस्त्य के समान तेजस्वी बनिए।...जड़वादी विचारों का प्रभाव संसार पर न हो सके, यह कामना आप रखते हों तो तेजस्वी जीवनधारा लेकर घर-घर पहुँच जाइए। सुदूर गाँव-देहातों में जाइए। वहीं वास्तविक भक्ति है। वर्तमान में सच्चे माने में इसी भक्ति की नितान्त आवश्यकता है।'

शास्त्री जी की इस 'भक्ति' का अनूठा प्रतिफलन उनके 'योगेश्वर कृषि', 'मत्स्यगंधा' और 'घर-मन्दिर' आदि में हुआ, जहाँ स्वयं योगेश्वर कृषिकर्मी 'पुजारियों' के साथ उनके खेत में विद्यमान रहते हैं तथा एकादशी के दिन वे मछुआरों को अपनी नौका पर लेकर निकल पड़ते हैं और उनकी जीविका के साधनों को शतशः प्रभावी बना कर उन्हें आदर्श जीवन की सीख देते हैं, साथ ही प्रति सप्ताह एक-एक स्वाध्यायी के घर में निवास कर उसके घर को सदा के लिए सुख-शान्ति के आवास के रूप में परिवर्तित कर डालते हैं।

इस प्रकार पाण्डुरंग शास्त्री ने भक्ति को सामाजिक आन्दोलन में परिवर्तित कर वैदिक विचारधारा के माध्यम से भारत को एक नया शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र दिया, जिसे देश-विदेश के मनीषियों ने व्यापक स्वीकृति प्रदान की।

'देह बन गई चन्दन' उपन्यास में लेखक इस अनूठे आन्दोलन को अन्तस्थ करने में सफल हुआ है।

सामाजिक जीवन में अपने सर्वथा अकल्पनीय एवं अनूठे प्रयोगों से जनजीवन में भाव क्रान्ति के पुरस्कर्ता मनीषी पाण्डुरंग शास्त्री की यह जीवनी अवश्यमेव पठनीय है।

अगले संस्करण में इसे कतिपय भाषा-दोषों से मुक्त किया जाना चाहिए।

### प्राप्ति-स्वीकार

विनिमय से प्राप्त पत्रिकाओं तथा विछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

#### पुस्तकें :

**राम भरोसेव्यंग्य संग्रह**, सम्पादक: विवेक रंजन श्रीवास्तव, प्रकाशक: सुकीर्ति प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2006, मूल्य: 80/- रुपये, पृष्ठ : 112।

**कोतवाल नशे में** (हाइकु-संग्रह) सम्पादक : डॉ. चन्द्र शेखर शर्मा 'शेखर', प्रकाशक: अरविन्द प्रकाशन, डी. 131, रमेश विहार, अलीगढ़-202 001 (उ. प्र.); प्रथम संस्करण : 2006, मूल्य: 20/-रुपये, पृष्ठ : 32।

**हिन्दी में वैज्ञानिक नाटक**, सम्पादक : डॉ. शिवगोपाल मिश्र, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, प्रकाशक : शोध प्रकाशन अकादमी, 5/48, वैशाली, गाजियाबाद; प्रथम संस्करण : 2006, मूल्य: 200/- रुपये, पृष्ठ : 248।

**छन्द और पक्षी** (कविता संग्रह) अनुवादक : रमेश चन्द्र शाह, प्रकाशक : रमेश चन्द्र शाह, प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मन्दिर नेहरू मार्ग, दाऊजी रोड (बीकानेर), संस्करण : 2005, मूल्य : 100/- रुपये, पृष्ठ : 80।

**दूर देखती आँखें** (विश्व कविता संचयन), अनुवादक : रमेश चन्द्र शाह, प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मन्दिर, नेहरू मार्ग, दाऊजी रोड (बीकानेर), संस्करण : 2006, मूल्य : 125/- रुपये, पृष्ठ : 96।

**Consciousness Value Culture**, Editor : Govind Chandra Pande, Publisher : Raka Prakashan, 40-A, Motilal Nehru Road, Allahabad-2, First Edition : 2006, Price : Rs. 595/- Pages : 506.

#### पत्रिका :

**साहित्य वार्ता** लोकापर्ण अंक, जुलाई-2006, सम्पादक : माधवेन्द्र, भरत प्रसाद, प्रकाशक : प्रगतिशील लेखक संघ, शिलांग, द्वारा हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग613 022, मूल्य : 10/- रुपये, पृष्ठ : 32।

# पर्यावरण प्रदूषण, उसके दुष्प्रभाव एवं पर्यावरण चेतना प्रसार के प्रयास

## राजीव रंजन उपाध्याय\*

पर्यावरण का तथ्यतः अर्थ मात्र किसी व्यक्ति से, उसके परिवेश से, न होकर, समाज के, राष्ट्र के और इस वसुधा, जिस पर हम वास करते हैं, जीवनयापन करते हैं तथा जो अपनी समग्रता में, व्यक्ति, समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्रों को प्रभावित करने में सक्षम है, से है। दूसरे शब्दों में पर्यावरण की व्यापकता, पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं, नद-नदियों, उत्तुंगगिरि शिखरों-पहाड़ों या मात्र किसी तन्त्र विशेष तक न होकर, उस सम्पूर्ण तथ्यपरक वास्तविकता से है, जिसपर हमारा समस्त आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास आश्रित है।

वास्तव में प्रकृति के प्रति अनुराग और उसका संरक्षण हमारी भारतीय सनातन, चिरंतन संस्कृति का अविभाज्य अंग रहा है। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने प्रारम्भ से ही प्राकृतिक शक्तियों को दैवी माना है; उन्हें देव स्वरूप में स्मरण किया है। इस तथ्य से हम सभी परिचित हैं। तथ्यपरक दृष्टि से अवलोकन करने पर, विचार करने पर, चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊर्जा के विविध स्वरूप हमारे प्रारम्भिक देव रहे हैं, जिनका क्रमिक विकास होता रहा है और उन्हीं से हमारा देव परिवार विकसित होता रहा है।

यदि हम आर्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अपनी जिज्ञासा को स्पन्दन करने का अवसर दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह संस्कृत के 'अर' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'कृषक'। मानव के विकास की शृंखला में वह 'आर्य'<sup>1</sup> उस समय हुआ, जब उसने कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया था और संस्कृत हो चुका था।<sup>1</sup>

यह सर्वविदित तथ्य है कि इस परिवेश में आने के पूर्व वह आखेटक था, जिसे भारोपीय भाषा में 'विरुस'<sup>2</sup> कहा जाता है और यह शब्द नार्डिक भाषा से आकर आंग्ल भाषा का 'वारियर' (Warrior) बन गया। हो सकता है, आप सोच रहे हों कि इस शब्द व्युत्पत्ति से पर्यावरण का क्या तारतम्य है? किन्तु अधिकांश शब्दों की उत्पत्ति परिवेशजन्य रही है।

\* डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.)

इसी परिवेश ने, परिस्थितियों ने ऊर्जा के अनन्त स्रोत सूर्य की स्तुति करने के लिए वैदिक ऋषियों को बाध्य किया था। सूर्य को ऋषि ने प्राण माना है, उससे उसकी ऊर्जा से वनस्पतियों का विकास होता है। सूर्य मानवीय विकास का प्रतीक रहा है उसका वियोग वैदिक ऋषि को असह्य है। वह कामना करता है

नः सूर्यस्य संदृशे माः युयोथाः

(ऋक. 2/33/1)

ऋषि ने सूर्य को स्थावर-जंगम आत्मा कहा है

सूर्य आत्मा जगतस्त्रस्थुषश्य

(ऋक.1/115/1)

उपनिषदिक काल में सूर्य को प्राण की संज्ञा दे दी गई

आदित्यो वै प्राणः

(प्रश्न उप. 1/5)

सागरों की गोद में आज से असंख्य वर्षों पूर्व जीवन का जो आदि रूप उत्पन्न हुआ था, उसमें सूर्य की रश्मियों से ही जीवन का संचरण हुआ था। यह अनादि प्रक्रिया आज भी सतत है। पादपों में क्लोरोफिल का संश्लेषण तथा अनेकों पराश्रयी जीवों का प्रत्यक्ष-परोक्ष भरण-पोषण इसी सूर्य रश्मियों पर निर्भर है।

हमारी संस्कृति में वायु के साथ जल भी देव का रूप है। जल की शुचिता पर, उसकी शुद्धता को संरक्षित करने हेतु अथर्ववेद के भूमि सूक्त का मंत्र है

शुद्धा न आपस्तम्बे क्षरन्तु,

(अथर्व., भूमि सूक्त 12/1/30)

मनुस्मृति भी जल में पुरीष, मल-मूत्र अथवा अन्य दूषित पदार्थ, रक्त, विष के विसर्जन का निषेध करती है

माप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्टोवनं समुत्सृजेत।

अमेध्यलिप्तमान्यद्वा लोहितम् व विषाणि वा॥

(मनुस्मृति 4-56)

यही कारण था कि हमारी नदियाँ पूज्य थीं, वन्दनीय थीं और पवित्र थीं

गंगे! तत्र दर्शनात् मुक्तिः

वृक्ष पूज्य थे, देव तुल्य थे। गीता में कृष्ण को अपने को अश्वत्थ कहना, इसी वैदिक परम्परा का परिचायक था। मत्स्य-पुराण में कहा गया है कि दस कूर्पों के समकक्ष है एक बावली-पुष्करणी और दस पुष्पकरणी के समकक्ष है एक हृद-तालाब, दस हृद के बराबर है एक पुत्र और एक वृक्ष दस पुत्रों के बराबर है

दश कूप-समावापी, दशवापी-समो हृदः।

दश-हृद समः पुत्रो, दश पुत्रो समो द्रुमाः॥

इस प्रकार की अनेकों उक्तियाँ हमारे प्राचीन वाङ्मय में व्याप्त हैं और हम गर्व से कहते थे

*मातः भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः।*

और

*नमो मात्रे पृथिव्यैः। नमो मात्रे पृथिव्यैः।*

इस माँ स्वरूपा पृथ्वी को प्रणाम है, नमन है।

परन्तु आज मानव ने औद्योगीकरण का संबल लेकर अपनी भौतिक आवश्यकता में अभूतपूर्व वृद्धि की है और इस प्रक्रिया में अपनी प्रवृत्ति-दोष के कारण उसने अपने इस अनादि तोषदायी पर्यावरण को क्षत-विक्षत कर दिया है। अब मैं, संक्षेप में जल, वायु, मृदा तथा अन्य मानवजन्य पर्यावरण प्रदूषकों की चर्चा करना चाहता हूँ।

जल जीवन है और हमने आधुनिकीकरण-औद्योगीकरण की अंधी दौड़ में लिप्त होकर जल को, जल स्रोतों को प्रदूषित ही नहीं किया है वरन आने वाले कुछ दशकों में जल संकट का आह्वान कर लिया है।

हमारी पृथ्वी के समस्त जल का 98% जल समुद्रों में भरा पड़ा है। यह खारा जल है। 1.8% जल ध्रुव क्षेत्र में बर्फ के रूप में विद्यमान है और 0.8% से भी कम मात्रा में जल हमारे जीवन के साधन-संधान हेतु उपलब्ध है।

आज विश्व में अधिकांश लोगों के लिए मीठा पानी अथवा पेय जल प्राप्त करना कठिन है। कुछ देशों में जल हेतु मीलों जाना पड़ता है और हमारे शरीर में पनप रहे 80% रोग जल में विद्यमान प्रदूषकों के कारण है, जिनमें जैव एवम् करखानों द्वारा उत्पन्न किए गए रसायन और उनके यौगिक प्रमुख हैं।

शहरों में पीने का पानी सामान्यतः नदियों से आता है, और इन नदियों में शहर का, नगर का प्रदूषित जल डाल दिया जाता है। इतना ही नहीं वरन् इन नदियों में औद्योगिक अपशिष्ट भी आकर मिलता है। इसके फलस्वरूप इन नदियों का जल प्रदूषित ही नहीं, वरन् जलचरों के लिए भी हानिप्रद हो जाता है।

यह अतिशय खेद की बात है कि हम आज भी अपनी इन पुण्य-सलिला सरिताओं में गिरते हुए अपशिष्ट पदार्थों के प्रबन्धन को गम्भीरता से नहीं ले रहे हैं और न ही इनमें प्रदूषण नियंत्रण के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक ही हुए हैं।

इन सरिताओं के जल में विद्यमान विभिन्न कीटनाशी रसायनिक पदार्थ जैसे नाईट्रेट, धात्विक तत्त्वों के सल्फेट, कार्बोनेट तथा अनेकों प्रकार के बैक्टीरिया व अन्य रोगाणु, जल की शुद्धता को प्रभावित करते हैं। इन प्रदूषकों में चर्म शोधन संयंत्रों के द्वारा विसर्जित जल भी सामान्य नदियों के जल की गुणवत्ता घटाने में प्रभावी होता है। एक शोध में, तमिलनाडु की विभिन्न चर्म शोधन संयंत्रों द्वारा अत्यधिक मात्रा

में सोडियम क्लोराइड के जल में उत्सर्जन से नदी एवं भू जल स्रोतों को प्रभावित करना दर्शाया गया है।<sup>3</sup>

भू जल के प्रदूषण के फलस्वरूप आरसेनिक के<sup>4</sup> यौगिक किस प्रकार चर्म कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम हैं, यह आज एक सर्वविदित तथ्य है। सरिता जल शोधन हेतु वाराणसी में चल रहे संकटमोचन ट्रष्ट के अन्तर्गत गंगा-जल शोधन परियोजना सराहनीय है।<sup>5</sup>

इस जल प्रदूषण का प्रभाव जल में जीवनयापन करने वाली मछलियों में यकृत कैंसर की वृद्धि करता है। यह तथ्य तालाबों में रहने वाली सीपी मछलीहेट्रोपोनेस्टेस फासिलिस के ऊपर हुए अध्ययनों से सत्यापित हो चुका है। स्वाभाविक है कि यह मत्स्य प्रजाति जो नदियों से लेकर सागरों तक में व्याप्त है भी इस प्रकार की व्याधि से प्रभावित हो रही है।<sup>6</sup>

हमारे वैदिक ऋषिगण वायु की शुद्धता की महत्ता से पूर्ण परिचित थे। यह परिचित इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि वैदिक ऋषि मरुत से, वायु के देव से प्रार्थना करता है कि वायु की शुद्धता का अतिक्रमण न करें

*अतिक्रम्य न गच्छन्ति, मरुतः मरुतो, नाह रिष्यथ*

परन्तु आज हमने वायुमुण्डल की किस प्रकार की शुद्धता नष्ट की है यह वायु में उपस्थित और कैंसरकारी नाईट्रिक-आक्साइड, एसीटीलीन, प्रोपेन, सल्फर डाई-आक्साइड, डाईक्लोरो फ्लोरो मिथेन, मिथाइल क्लोराइड, विनाइल क्लोराइड एवम् हाइड्रोजन सल्फाइड की मात्राओं पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है।<sup>9</sup>

वैसे वायु में उपस्थित कारों, ट्रकों से निकले कैंसरकारी तत्त्वों का अतीव गम्भीरता से विश्लेषण किया जा चुका है और उसमें निहित कारसिनोजेनिक, कैंसरकारी म्यूटाजेनिक, सिनकारसिनोजेनिक हाइड्रोकार्बनों, नाइट्रोसामीनों और क्लोरीन से संयुक्त विविध यौगिकों का अध्ययन बहुचर्चित है।<sup>10</sup>

इन विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों की वायु में उपस्थिति के कारण सामान्यजन में, फेफड़ों के कैंसर से लेकर शरीर में विविध प्रकार के कैंसरों की सम्भावना बढ़ी है। ओजोन विवर के आंशिक विनाश के फलस्वरूप सूर्य की किरणों का घातक प्रभाव बढ़ा है और आनेवाले वर्षों में मानव त्वचा कैंसर के प्रतिशत में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी होगी।<sup>11</sup>

सामान्य रूप से वायु में विविध औद्योगिक इकाइयों द्वारा बढ़ाया जा रहा प्रदूषण मानव स्वास्थ्य के लिए घातक है। ईरान के तबरीज नगर में तन्दूरों और पत्थरों को कैरोसीन से गर्म करने के उपरान्त बनाई गई रोटियों (लावाश-पतली रोटी), संजांच तथा नाने-रोगनी (मोटी गोल रोटियों) में भी कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम पालीसायक्लिक एरोमेटिक हाइड्रोकार्बनों की सीमा से अधिक मात्रा में उपस्थिति इस प्रकार से रोटियाँ बनाने हेतु दूसरे संसाधनों को प्रयुक्त करने का संदेश देती है।<sup>12</sup>

धरा, जिसकी हम सदैव से वन्दना करते रहे हैं, को भी प्रदूषित करने के उपरान्त मानव ने अपने इस दिशा में हो रहे दुष्प्रयासों को विराम नहीं दिया है। हमने धरा को, उसकी मृदा को, विविध प्रकार के कीटनाशियों, पादप नाशियों, खरपतवारनाशी, रसायनों के विविध यौगिकों द्वारा प्रदूषित कर दिया है। सामान्य मृदा की गुणवत्ता पर आज प्रश्नचिन्ह लग गया है। अत्यधिक रासायनिक उर्वरकों ने फसल की उपज को प्रभावित ही नहीं किया है वरन् उसमें स्वाद की गुणवत्ता का हास भी हुआ है।

इन रसायनों में अनेक कैंसरकारी पदार्थ हैं जो पादपों, फसलों में शोषित होकर मानव शरीर में जाकर विभिन्न अंगों में कैंसर उत्पन्न करते हैं। यह सर्वविदित कटु तथ्य है।

ईरान के एक प्रमुख नगर तबरीज में पेट्रोल पम्पों की मृदा में प्रदूषण अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि इन पेट्रोल पम्पों के समीप की मृदा में कैंसरकारी पालीसायक्लिक हाइड्रोकार्बनों की मात्रा अत्यधिक होने के कारण उन पम्पों पर कार्यरत कर्मियों में कैंसर होने की सम्भावना सामान्य जन से अधिक होती है।<sup>13</sup>

वैसे भी पर्यावरण में अनेकों प्रकार के कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम पदार्थों की वैश्विक सन्धर्भ में चर्चा कैंसर उत्पन्न करने में सहायक पादप प्रजातियोंविशेषकर इयूफोरविया प्रजातिके पादपों की चर्चा के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। इन पादप प्रजातियों से अनेकों प्रकार के सह<sup>14,15</sup> कैंसरकारी पदार्थ प्राप्त किए गए हैं तथा इनकी उपस्थिति मधु मक्षिकाओं द्वारा इस प्रजाति के पादपों के पुष्पों के रस को मधु स्वरूप प्रदान करने के कारण, मधु में भी पाई गई है जिसका सम्बन्ध गले के कैंसर को उत्पन्न करने में सहायक होता है।<sup>16</sup>

इस प्रकार प्रकृति की मूलभूत संरचना में अधिक परिवर्तन होने के कारण मानव की समस्याएँ बढ़ रही हैं। प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण तीव्रता से हो रहा है और उनका समाप्त होना भी निश्चित है।

वनों के विनाश से पर्यावरण का सन्तुलन प्रभावित हो रहा है। कभी वनस्पतियों से परिपूर्ण हिमालय एवं अन्य गिरि श्रृंखलाओं पर उगते पेड़ और वनस्पतियों का अनवरत विनाश होता जा रहा है। वनों की जैव विविधता प्रभावित हो रही है। पक्षियों एवं पशुओं की, विशेषकर वन्य जीवों की, मानव की लोलुपता के कारण, संख्या घटती चली जा रही है।

भूगर्भ में स्थित संसाधनों का, विशेषतः ऊर्जा के स्रोतों की उत्पादकता प्रभावित हो रही है। अत्यधिक खदान के कारण भी सामान्य पर्यावरण संतुलन बिगड़ रहा है। इस प्रकार सभी प्रज्ञावान व्यक्ति बढ़ती प्रकृति आपदा और उससे जुड़े पहलुओं के संरक्षण के विषय में सचेष्ट हो गए हैं। प्राकृतिक सम्पदा में निहित जैविक कारक, यथावनसम्पदा एवम् जीव-जन्तु तथा अजैविक कारक तत्त्व , यथावायु, जल,

भूमिदोनों होते हैं। ये कारक हमारे अस्तित्व से जुड़े हुए हैं। हम इनकी उपेक्षा करके स्वतः अपने अस्तित्व पर आघात करते हैं। इस कारण इनका संरक्षण आवश्यक है।

वायु एवं परिवेश संरक्षण हेतु आवश्यक हैकारों, कारखानों, वायुयानों तथा ट्रकों द्वारा उत्सर्जित गैसों की मात्रा पर नियंत्रण। पेट्रोल एवं डीजल द्वारा जनित प्रदूषण, जो हमारे वायुमण्डल को प्रभावित करता रहा है, पर नियंत्रण हेतु गैस चालित वाहनों की बढ़ती उपयोगिता एक स्वागत योग्य प्रयास है। इसी प्रकार अति-प्रदूषित स्थानों पर प्राण वायु को समय-समय पर वातावरण में छोड़ना भी प्रदूषण नियंत्रण में प्रभावी हो सकता है।

यदि हम वृक्षारोपण के प्रति अपने पूर्वजों की भाँति ही पुनः सचेष्ट हो जाएँ तो वायु प्रदूषण स्वतः नियंत्रित किया जा सकता है। परन्तु इस कार्य हेतु पीपल, उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (बरगद), मधूक (महुआ), जम्बूफल (जामुन), नीम्ब (नीम), आम्र (आम), अशोक आदि वृक्षों को जो कि विशाल एवम् दीर्घजीवी होते हैं, लगाने की प्राथमिकता देनी चाहिए। वृक्ष हमारे जीवन से जुड़े हैं। इसी कारण इनकी सुरक्षा एवं पूजा दैनिक कृत का अंग मानी गई है। वृक्षों के कटने के कारण मिट्टी वर्षा ऋतु में कटकर अन्यत्र चली जाती है। इस प्रकार मृदा का अपर्दन-कटाव से रोकना आवश्यक है। इसको सिंचाई की उचित व्यवस्था तथा सघन कृषि द्वारा भी रोका जा सकता है।

धरा की मृदा की सृजन शक्ति बढ़ने हेतु जैविक खाद के प्रयोग को पुनः उपयोग में लाना होगा।

हमारे देश में जितनी सुन्दर वर्षा होती है वह विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है परन्तु प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु का सूर्य इस जल को सोख लेता है। इसी कारण हमारे देश में कुओं, पोखरों, बावली और तालाबों के निर्माण की महत्ता को धर्म का अंश माना गया है। इनमें जल स्वतः संरक्षित ही नहीं संग्रहित होकर शुद्ध बना रहता है तथा भू जल स्तर में कमी नहीं होने पाती। आज के परिप्रेक्ष्य में इस परम्परा को जीवित करने की आवश्यकता है, क्योंकि यह देशज है और आवश्यक भी। घटते जल स्तर को सुनियोजित करने हेतु यह समय की आवश्यकता है।

वनों के संरक्षण हेतु, सघन वृक्षारोपण का प्रयास काष्ठ, लकड़ी जो गृह निर्माण में प्रयुक्त होती है, उसके स्थान पर लौह अथवा अन्य अधात्विक पदार्थों के उपयोग को प्रोत्साहन देना अप्रासंगिक नहीं रहेगा। विकसित देशों में गृह निर्माण में इस विकल्प का प्रयोग हो रहा है।

संक्षेप में यदि हम इन विषयों के प्रति जन सामान्य की जागरूकता में वृद्धि करा सकें तो पर्यावरण का विनाश बहुत अंशों तक नियंत्रित किया जा सकता है।

जन सामान्य में पर्यावरण के प्रति जागरूकता लाने के विविध उपाय हैं। इस विज्ञान प्रधान संचार क्रान्ति के युग में, दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में इस जागरूकता को

रेडियो के माध्यम से तो सम्प्रेषित किया ही जा सकता है, परन्तु प्राचीन कथोपकथन की पद्धतिकथा माध्यम से सन्देश संप्रेषण, जो आज भी लोकप्रिय हैप्रासंगिक है, तथा प्रभावशाली भी।

विज्ञान कथाओं का उद्देश्य अपने पाठकों को आने वाले समय में सामान्य विकासों, घटनाओं, आशंकाओं आदि का चित्र प्रस्तुत करना होता है। इसी कारण विज्ञान कथाओं में भविष्य की घटनाओं की पग-ध्वनि सुनी जा सकती है।

इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध विज्ञान कथा लेखक 'रे-ब्रेडबरी' का कथन ध्यान देने योग्य है "मैंने अपने जीवन में विज्ञान के जो नए-नए अनुसंधान होते देखे हैं, उनसे मुझे यही लगता है कि जो बातें मेरे जन्म के समय में विज्ञान गल्प में गिनी जाती थीं वे अब वास्तविकता का अंग बन गई हैं। अतः आज की अच्छी विज्ञान कथा कल की वास्तविकता हो सकती है और यह इतनी तेजी से हो रहा है कि उसकी परिचिति मानव के अपने समय में ही होने लगती है। यह परिचिति एक तथ्य है पर यह देखना है कि इस अभियान में मानव को अपने समय में मानव अस्मिता तथा कल्याण आदि किस सीमा तक अपने को 'अर्थ' दे सकते हैं।"

जीवन के परिप्रेक्ष्य में विज्ञान प्रदत्त संसाधन मानव के हित में कितने अर्थवान हैं, यह खोज, यह चेतना विज्ञान कथाकारों के मानस को भी आन्दोलित करती है। इसी कारण उसकी लेखनी ने विज्ञान कथा के अनेकों आयामों में 'पर्यावरण-प्रदूषण' को भी सम्मिलित कर अपनी जागरूकता का परिचय दिया है।

विज्ञान कथाकार हरीश गोयल ने ओजोन पर्त में छिद्र से उत्पन्न समस्या की ओर अपनी विज्ञान कथा 'आसमान में सूराख' में ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार पारद-पारे द्वारा उत्पन्न प्रदूषण (जल प्रदूषण) 'मिनी माटा' नामक कथा का मध्य-बिन्दु है। लेड तथा पालीथीन द्वारा उत्पन्न प्रदूषणों की चर्चा उन्होंने अपनी 'लेड प्याँजनिंग' तथा 'पालीथीन कहर' नामक विज्ञान कथाओं में किया है।<sup>17</sup>

मानव द्वारा पृथ्वी के पर्यावरण का विनाश एवं मानव की नवीन प्रजाति 'होमोफ्यूचेरियस' द्वारा पृथ्वी पर पुनर्उत्पत्ति के प्रयासों को चित्रित करती 'जीवन की उत्पत्ति' नामक मनीष मोहन गोरे की एक सशक्त विज्ञान कथा है।

पर्यावरण के विनाश को दर्शाती श्रीमती कल्पना कुलश्रेष्ठ की 'उस सदी की बात' तथा 'विरासत'<sup>18</sup> नामक प्रभावशाली विज्ञान कथाएँ हैं। हम सभी हरित गैसों के प्रभाव तथा तापक्रम के बढ़ते हुए प्रभाव से परिचित हैं। तापक्रम में वृद्धि विश्व के विशाल हिमनदों को प्रभावित कर उन्हें पिघलने पर बाध्य कर देगी। यही घटनाक्रम निश्चय ही ध्रुवीय क्षेत्रों के साथ घटित होगी फलस्वरूप समुद्र के जल में वृद्धि तो होगी ही और पृथ्वी के अनेकों तटीय भाग जलमग्न हो जाएँगे। नदियों में बढ़ा जल एक बार हमें पुनः मनु और शतरूपा की स्मृति जाग्रत कराने में सफल

सिद्ध हो सकता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करती, इन पंक्तियों के लेखक की बहुचर्चित विज्ञान कथा है 'अन्तिम जल-प्लावन'<sup>19</sup>

विज्ञान के सन्देश के संचार के लिए, विज्ञान कथाएँ एक प्रभावी माध्यम हैं, यह एक सर्व स्वीकार्य तथ्य है। विज्ञान कथाकारों ने पर्यावरण के प्रति जागरूकता के विस्तार हेतु पर्यावरण की समस्याओं को कथा के माध्यम से प्रस्तुत करने का जो अभिनव प्रयास किया गया है वह सराहनीय है, तथा उसी के अन्तर में निहित है हमारी सनातन अवधारणा 'सर्वे भवन्ति सुखिनः' की कामना।

## सन्दर्भ

1. राय, कुबेरनाथ : रामायण महातीर्थम्, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, पृ. 82, सन् 2002.
2. मण्डल, एन.सी.; सक्सेना, वी.के.; एवं सिंह, के.के. : इम्पैक्ट ऑफ पाल्यूशन ड्यू टू टैनेरीज आन ग्राउण्ड वाटर; रिजीमेन करेण्ट साइन्स, 80, 1988, 2005.
3. ग्राउण्ड वाटर ओवर फ्लो इन बिहार : टाइम्स ऑफ इण्डिया, 31.12.2005.
4. मिश्र, वीरभद्र : द गंगा एट वाराणसी एण्ड ए ट्रैवील टू स्टाप हर एब्यूज, करेण्ट साइन्स 89, 755, 2005.
5. उपाध्याय आर.आर. एवं स्वरूप, एच.सी.एच. : प्रोड्यूसेस मार्कड वेसेफिलिया इन द लिवर ऑफ हेटेरोपोनेस्टेस फासिलिस, जर्नल ऑफ एडवांस जुआलोजी 6,114,1989. तथा ट्यूमर प्रमोशन इन फ्रेश वाटर फिश हेटेरोपोनेस्टेस फासिलिस (ब्लाच) पी-एच.डी. थीसिसए. स्वरूप, 1983.
6. उपाध्याय आर.आर. एवं उपाध्याय, लोकेश : डेवलपमेण्ट ऑफ मार्कड वेसेफिलिया इन द लिवर ऑफ हेटेरोपोनेस्टेस फासिलिस बाई सम सेलेक्टेड केमिकल्स, करेण्ट साइन्स, 65, 708, 1993.
7. उपाध्याय, आर.आर. उषा एवं उपाध्याय, लोकेश : सिरोसिस एण्ड डिसप्लासिया काण्ड वाई सनसेट यलो एण्ड ब्रिलियण्ट ब्लू ज. एन.वीरान मानीटरिंग, 4, 275, 1994.
8. उपाध्याय, आर. आर. उषा एवम् उपाध्याय, लोकेश : कारसीनोजेनिक इफेक्ट ऑफ ए हेयर डाई इन द लिवर ऑफ हेटेरोपोनेस्टेस फासिलिस, ज. इकोटाक्सी एण्ड एन्वीरान मानीटरिंग, 15, 151, 1995.
9. ग्रोव, आर.एल. एण्ड केली सी. एम. : एम्बीयण्ट एयर पाल्यूशन एनालिसिस, एन्वीरान मेण्टल लेटरस, 8, 235, सन् 1975.
10. मोर यू, श्माल, डी एवम् टोटासिस एल : एयर पाल्यूशन एण्ड कैंसर इन मैन, आई. ए. आर. सी, साईटिफिक पब्लिकेशन नम्बर, 16, 1999.
11. उपाध्याय, आर. आर. : मैन एन्वायरनामेण्ट एण्ड कैंसर, एग्रो बोटनिकल पब्लिशर, बीकानेर इण्डिया, 1992.

12. उपाध्याय, आर. आर., गनायत, फ.माफी.डी., निजामी ए एण्ड दुस्तदार, एस : प्रेजेन्स ऑफ वेन्जोपायरीन इन वेरियस ईरानियन ब्रेड सेम्पुल्स, इण्डि. जर्नल बायोलो. रिसर्च, 2, 293, 1986.
13. उपाध्याय, आर. आर., गनायत, ए. वेहवहानी, ए. एन. सानायेह, एन. डी. : प्रेजेन्स ऑफ वेन्जोपायरीन इन स्वायल, रूम डस्ट एण्ड इन वाटर सैम्पुल्स ऑफ अजरबाइजान प्राविंस ऑफ ईरान एण्ड दि कारसीनोजेनिक एक्टिविटी आन माइस बैकेस्कन, इण्डिया जर्नल कैंसर, 24, 20, 1989.
14. उपाध्याय, आर. आर. : प्लाण्ट्स दैट मे काज कैंसर, एग्रो बाटनिकल पब्लिशर, बीकानेर इण्डिया, 1989 और उसमें उल्लिखित अनेक सन्दर्भ।
15. ईवानस, एफ. जे., टेलस, एस. ई. : प्रोइन्फ्लामेटरी, ट्यूमर प्रोमोटिंग एण्ड एण्टी ट्यूमर डाई टारपीनस ऑफ प्लाण्ट फैमिनीज, इयूफोरबिऐसी एण्ड थिमिलिएसी, प्रोग्रेस इन केमेस्ट्री ऑफ आरगैनिक नेचुरल प्रोडक्ट्स, खण्ड 44, 1983. और उसमें उल्लिखित सन्दर्भ।
16. उपाध्याय, आर. आर., इस्तामपनाह, सूसन एण्ड दाऊदी अकरम : प्रेजेन्स ऑफ ट्यूमर प्रोमोशन फैक्टर इन हनी, जापानीज जर्नल कैंसर(गान), 71, 557, 1980.
17. गोयल, हरीश : 'सभ्यता की खोज', साहित्य चन्द्रिका प्रकाशन, राजा पार्क, जयपुर, 2003.
18. कुलश्रेष्ठ, कल्पना : 'उस सदी की बात', अमर सत्य प्रकाशन, प्रीतविहार, दिल्ली-110092, सन् 2005.
19. उपाध्याय, राजीव रंजन : 'आधुनिक ययाति', ग्रन्थ विकास, सी-37, बर्फखाना, राजापार्क, जयपुर, 2004.

## खासी जनजाति और उनकी आस्था

### दीलू सुवेदी\*

खासी मेघालय के खासी तथा जयन्तिया पहाड़ी जिलों के निवासी हैं। "हमारा निवास जिस खासी भूमि में है वह लूम मांकासाड (हिमालय) के समयुग है।"<sup>1</sup> ऐसा डॉ. बी. बी. लिड्डोह मानते हैं। एच. लिड्डोह के अनुसार

"शोध से साबित होता है कि खासी जाति खासी पहाड़ में चार हजार वर्ष से रह रही है, सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य भागों में भी, जैसेन्युजीलैण्ड, दक्षिण अमेरिका में भी ये पाए जाते हैं।"<sup>2</sup>

खासी पहाड़ की सुन्दरता का वर्णन करते हुए एक असमीया लेखक लिखते हैं : "इन पहाड़ी को देखकर मन में सर्वप्रथम एक विचार आता है कि यह बिना बर्फ का स्काटलैंड है, कश्मीर को छोड़ दें तो ऐसी प्राकृतिक सुन्दरता लिए भूमि शायद ही कहीं हो।"<sup>3</sup>

खासी कौन है? इनके पूर्वज कौन हैं? ये सवाल आजतक अनसुलझे हैं। शायद हम व्यापारी (Khai or Khahi) थे इसी से हम खासी हुए।<sup>4</sup>

पर यह विचार जँचता नहीं है। खासी जाति के पूर्वजों के बारे में एक सशक्त विचार आता है जो उसे उत्तरांचल तथा नेपाल के खस जाति से जोड़ता है, यह विचार हालाँकि विस्तृत अनुसन्धान के आधार पर प्रमाणित नहीं हो पाया है पर यह खासी पहाड़ में विद्यमान है। "प्राचीनतम खासियों का वर्णन शंकरदेव के असमीया भागवत पुराण, जो सन् 1500 ईस्वी में रचा गया था, में भी पाया जाता है। वैसे संस्कृत साहित्य, खासकर कश्मीर के राजतरंगिणी में एक पहाड़ी जाति का उद्धरण है, जिन्हें खस कहा जाता है। यह जाति दक्षिणी कश्मीर में पाई जाती है और आज भी है। खस लोग गिल्गीट, चित्राल, कुमाउँ, गढ़वाल और नेपाल के डोटी जिला में पाए जाते हैं। उन खसों में और खासियों की जवाहरातों में अद्भुत एकरूपता पाई जाती है। इससे इस विचार को बल मिलता है कि खस और खासी एक ही मूल के आदिनवासी हैं।"<sup>5</sup>

\* दीलू सुवेदी C/o एम. अधिकारी (एडवोकेट) पो. आ. उमरसीग, नया बंगला, री मोई, शिलौंग, मेघालय-793105

खस और शक एक ही मूल के हो सकते हैं इस तथ्य बिन्दु को आगे बढ़ाते हुए महापण्डित राहुल खस जाति एवं शकों में समानता दिखाते हुए लिखते हैंसाधारण कब्रों में भी खान-पान सहित बरतनों को रखा जाना आवश्यक माना जाता था। यह प्रथा शक की एक शाखा खसों में ईस्वी सन् के आरम्भ से पिछे तक भी पाई जाती थी, यह लदाख से कुमाउँ तक मिलनेवाली खस समाधियों में सिद्ध है।<sup>6</sup>

उल्लेखनीय है कि खासी पहाड़ में सिर्फ पारम्परिक आस्था रखने वाले खासी ही नहीं वरन् ईसाई खासी भी आज तक भोजन, बर्तन, कपड़े तथा जवाहरात यहाँ तक कि नगदी भी कब्र में रखते हैं।

भाषा शास्त्री तथा पुरातत्त्व शास्त्री खासियों का सम्बन्ध कम्बोडिया के मोन खेर तथा भारत के मुण्डा जाति से जोड़ते हैं और इस अनुमान को ही आजतक विश्वसनीय माना गया है।

खासियों का सम्बन्ध मुण्डा से है तो मुण्डा का भी खसों से। ग्रियर्सन का विचार को उद्धृत करना आवश्यक हो जाता है। “वर्तमान युग में सपालदक्ष प्रदेश में, पश्चिम में कनेत तथा पूर्व में खस जातियाँ निवास करती है, जिनका व्यवसाय कृषि है। कनेत जाति दो उपजातियों में विभक्त है। इनमें से प्रथम उपजाति खसिया नाम से प्रसिद्ध है और अन्य लोग राव (राजा या राजपूत) कहे जाते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि वे शंकर जाति के हैं।

परवर्ती युग में, वे पूर्व की ओर सम्पूर्ण सपाद दक्ष प्रदेश में फैल गए जहाँ आज हम उन्हें पाते हैं। उन्होंने उर्वर भूमि को जीतकर अधिकृत कर लिया। इसके कुछ और बाद प्रायः सोलहवीं सदी में नेपाल में वे गोरखा आक्रमण में अग्रसर हुए। यहाँ तिब्बती, मुण्डा जातियों में, जिन्हें उन्होंने वहाँ पाया था, वे मिल गए और खस जाति के रूप में उस प्रदेश का शासक बन बैठे।<sup>7</sup>

“खासी जाति अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती है, जैसे, खासी, प्जार, वार। वर्णित नामों का एक मुस्त रूप ही समझा जाए और जब खासी धर्म संस्कृति कहा जाए तो उसे भी एक मुस्त रूप से देखा जाए। शुरू में खासी लोग पड़ोसी हिन्दू धर्म से प्रभावित थे।”<sup>8</sup>

खासी समाज मातृसत्तात्मक समाज है। खासी लोग अपनी इस परम्परा के प्रति आज भी आस्था रखते हैं। मल्लीम के सीएम, लेबोर रियस सीएम ने अन्तर्राष्ट्रीय आदिवासियों के सम्मेलन की समापन सभा में कहा कि हम इस पृथ्वी में आते हैं, बढ़ते हैं, और जीते हैं क्योंकि अपनी परम्परा से खुद को अलग कर हम आदिवासी नहीं रह पाएँगे।<sup>9</sup>

खासी मातृसत्ता के आधार में ही खासी धर्म का आधार है। खासी एक गोत्र सापेक्ष समाज है और गोत्र भी क्पोह (पेट) में बँटते जाते हैं। प्रत्येक क्पोह की पूजा

अपने बूढ़ी नानी (Iawbei), बूढ़े नाना (Thawlang) और मामा (Suidnia) की सम्मिलित मान्यता के रूप में होती है। यह पूजा ही खासियों की कुल पूजा के रूप से जानी जाती है। पूरब नेपाल की बुढ़ी बजै की पूजा जो साल में एकबार की जाती है वह लिम्बू जाति के कुल देवता की पूजा के रूप में जानी जाती थी पर बाद में इस अन्य जातियों ने भी अपनाया। खासियों की इस गोत्रीय कुल देवता की पूजा आराधना के ऊपर सभी की आस्था है। यहाँ तक कि धर्म त्याग चुके खासी भी इस पूजा के महत्त्व को मानते हैं। खासी अवधारणा में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैतीप कुर तीम खा(सगोत्री को समझोदादी के गोत्र को समझो), कुर (गोत्र) इनके लिए इतना महत्त्व रखता है कि वे सगोत्री (क्पोहनजदिकी) के दुःख सुख अपना ही दुःख सुख समझते हैं। हिन्दू परम्परा की तरह खासियों में सगोत्र में विवाह करना साड (निषेध) है।

खासी मातृसत्तात्मक समाज विकास की एक प्रक्रिया के रूप में बढ़ रहा है। भारत के अन्य जातियों में भी मातृसत्ता कभी थी और दक्षिण अमेरिका के बहुत सारे जातियों में, भारत के केरल के नायों और नेपाल के लिम्बुओं में मातृ सत्ता के अवशेष पाए जाते हैं।

खासी धर्म-संस्कृति को भारतीय धर्म संस्कृति से अलग करके देखा नहीं जा सकता है। क्योंकि खासी आस्था का मूल बिन्दु प्रकृति के प्रति आस्था है जो वेदों के साथ समविचार रखते हैं। कुल देव की पूजा आराधना खासी आस्था का एक और मुख्य पहलू है जो भारतवर्ष के सभी जातियों में मिलती है। इन्हें छोड़कर और भी बिन्दु है जिससे हम खासी आस्था को भारतीय धर्म संस्कृति के ही एक भाग के रूप में पाते हैं।

खासी धर्म में हिन्दू धर्म की तरह बहुत सारे विचार पाए जाते हैं। एस. सी. रायङ्खार कहते हैं“ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वह विद्यमान प्रकृति के संयोग से सभी जीवित वस्तुओं का निर्माण करता है।”<sup>10</sup>

श्री कनफाम सिंह कहते हैं“कोई भी चीज ईश्वर के बिना नहीं होती। वह सृष्टिकर्ता है। सृष्टि करते समय प्रकृति के पदार्थ और चेतना का अद्भुत संयोग होता है।”<sup>11</sup>

“भारतीय दर्शन के अनेक मत हैं। इस दृष्टि से भारत में उद्भूत सभी दर्शनों का चाहे वे वैदिक हैं या अवैदिक, यदि हम विश्लेषण करेंगे तो चार मत हमारे सामने आएँगे।

1. वे दर्शन जिन्होंने एकत्व को माना, अद्वैत को माना, जैसे, वेदान्त दर्शन।
2. दूसरे वे दर्शन हैं जिन्होंने द्वैत को माना जैसे, सांख्य, जैन दर्शन। उसी प्रकार आचार्यों में द्वैतवादी थे।

3. तीसरे वे दर्शन हैं जिन्होंने नानात्व को माना जैसे वैशेषिक, न्याय, पूर्व मीमांसा और चार्वाक।

4. ऐसे दर्शन जिन्होंने न एक माना न दो, उन्होंने इसकी व्याख्या नहीं कीं। इसमें बौद्ध दर्शन आता है।<sup>12</sup>

विविधता से लैस भारतीय दर्शन में द्वैत, अद्वैत, नानात्व और शून्य की व्याख्याओं से दर्शन के क्षेत्र में सम्पूर्णता आई है। खासी चिन्तन से मूलतः अद्वैत है फिर भी उसमें नानात्व और द्वैत का भी मिश्रण पाया जाता है।

मनुष्य की सृष्टि के बारे में “खासी चिन्तन यह मानकर चलता है कि मानव ईश्वर की विशिष्ट सृष्टि है और यह विशिष्टता स्रष्टा के अन्य सृष्टियों से भिन्न है। उसका महत्त्व पदार्थों से भिन्न और ऊँचा है। सिर्फ वही है जो जटिलता को समझ सकता है और ईश्वर से बातें भी कर सकता है।”<sup>13</sup>

आदिम काल से खासी की सृष्टिकर्ता को प्रार्थना करने के मन्त्र श्रुति के रूप में विखरे पड़े हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिमार्जित होते हुए विद्यमान हैं। इन प्रार्थनाओं में ध्वनि है जो भारतीय मन्त्रों या वेद पाठ जैसे ही सूक्ष्म से स्थूल रूप में अभिव्यक्ति होती है। खासी प्रार्थना करते समय भी ध्वनि वायुमण्डल में कम्पन लाती है। प्रार्थनाकर्ता प्रार्थना के एक-एक शब्द का उच्चारण करता। उसी प्रकार है जैसे वह उसे विरासत में मिली हो। मैं यहाँ खासी प्रार्थना के अंश उद्धृत कर रहा हूँ

“A Blei, Trai kynrad me U Nongbuh Nong Thaw

हे ईश्वर स्वामी तू सृष्टिकर्ता

Uba la thawbynriew buh bynriew iangi

तूने सृष्टि किया हम मानवों की; तूने दिया हमको

Uba la ai ha ngi

Ka longbriew ka manbriew, ka long rynieng man ...ieng

मनुष्यत्व, विवेक और बुद्धि

Ngi nguh arti ngi dem arti...

हम नतमस्तक हैंहम दण्डवत् करते हैं।”<sup>14</sup>

साधारणतः कहा जाए तो खासी धर्म पारिवारिक धर्म है जिसमें एक गोत्र, एक परिवार, जिसके पृथक् Iawbei, बूढ़ी नानी Thawlang, बूढ़े नाना और Suidnia, मामा होते हैं, के किसी भी प्रकार की अनिष्ट को दूर करने के लिए इनकी (कुल देवता की) आराधना की जाती है। जब वह अनिष्ट (महामारी या अन्य तकलीफें) दूर हो जाती हैं तो परिवार के सभी सदस्य बैठकर प्रार्थना करते हैं

“To Sngap ko Blei ko Iawbei,

सुनो हे ईश्वर, हे कुल देव

Te Wei nga la shem ia ka nia ka lynti

मैंने पाया तुम्हारा तर्क और पथ

Ka longjot ka longrem jongphi

जितने भी दुःख यातना और कष्ट

Kynard Hajar nguh, to sngewisyni ho!

स्वामी बार-बार नमस्कार, तो दया करो!

To kum bieit kum lyndet nga khun bynriew,

तो (मैं) मूर्ख, विमुख (ईश्वर के) मैं मनुष्य

To ai ka khiah to ai ka nang

तो स्वस्थता दो, निरोगिता दो,

Ngan da kyndit namar kata ka nia

मैं जग गया हूँ, तेरे उस तर्क से

kat haba shong ka nguh ka dem

जब बैठता दण्डवत् साष्टांग के लिए,

U dkhot u lamjew, u kpu u rynsi

U klong u skaw, law ka shah ka thar

तिक्तता, व्याकुलता मानसिक अस्वस्थता

Hei wat die rem shuh ho kum hynnin, hynne

इन सबकी पुनरावृत्ति न हो,

Ap ia ka nia ka lynti Pyllun kata mo!

देखो तर्क और पथ, वही तो ठीक।”<sup>15</sup>

“खासी समाज में प्रकृति और संस्कृति की जो एकात्मता है वह खासी चिन्तन की मूल बात है। बहुत-सी खासी लोक कथाएँ प्रकृति के प्रति उनके चिन्तन को उजागर करती हैं। मानव जीवन जिसे कहा जा सकता है कि वह एक मायाजाल है और यह कहना कठिन होगा कि यहतर्क संगत नहीं है। खासी लोक कथाओं की, जो प्रकृति पक्ष को उजागर करती है, आज के विज्ञान के आधार पर व्याख्या नहीं किया जा सकता। अगर जीव जन्तुओं और वनस्पतियों को पृथ्वी से अलग कर दिया जाए तो मानव जाति की अवस्था कैसी होगी इसकी कल्पना करना भी मुश्किल होगा। इस तरह विभेद कर देखने का विचार प्राचीन खासियों ने नहीं किया है। खासी समाज में जीवन को अन्यान्य तत्त्वों से अलग नहीं किया जाता है। अपनी खोज से उन्होंने पाया है कि प्रकृति और संस्कृति को अलग नहीं किया जा सकता, ये एक-दूसरे के पूरक हैं। ये साथ-साथ चलते हैं और इनमें कोई अन्तर नहीं हैं। अलगाववादी चिन्तन प्राचीन खासी सोच में नहीं था, क्योंकि वे आज के आधुनिक अनुसन्धानकर्ताओं से भिन्न थे। वे पत्थर, पेड़, पशु और वनस्पति की प्रकृति से अवगत थे। खासियों के जीवन में कुत्ता और मुर्गा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। मुर्गे



की वाँग और एक दिन बढ़ने का सूचक होती है, वैसे ही जैसे आज के युग में घड़ी की अलार्म आदमी को जगाती है। कुत्ता केवल आदमी का सुरक्षा गार्ड मात्र न होकर बाढ़ और मृत्यु की पूर्व सूचना भी देता है। खासी विश्वास करते हैं कि अगर कुत्ता अजनबी स्वर में रोता है या अपनी पूँछ को चारों ओर घुमाता है तो यह गाँव के किसी घर में मृत्यु का सूचक होता है।”

खासी चिन्तन में प्रकृति प्रेम आदि काल से ही था। प्रकृति के प्रति आस्था खासी आस्था का अभिन्न अंग है। खासी पहाड़ के विभिन्न क्षेत्रों की लोककथाओं में प्रकृति के प्रति आस्था के बहुत सारे प्रमाण हमें मिलते हैं। खासियों में ईश्वर एक है और वह सृष्टिकर्ता है, निराकार है, अन्तहीन और व्यापक है।

खासी चिन्तन में ईश्वर का स्थान इतना महान् और विशाल है कि उसे किसी धर्मशास्त्र की परिधि में बाँधा नहीं जा सकता है।

खासियों द्वारा ईश्वरीय वर्णन के मूलतः तीन रूप हैं : (1) उसकी शक्ति, (2) उसकी सत्य निष्ठा और (3) उसकी वाणी। खासी को ईश्वर दिखता है प्रकृति में तथा पृथ्वी में जिसे उसने रचा है।

प्रकृति का यह लुभावना दृश्य, पृथ्वी और आकाश की, जहाँ सूर्य, चन्द्र अपनी ही गति से चलकर खासीको ईश्वर की महानता का संकेत देते हैं। ईश्वर और उसके ये सृजन खासी के साथ सदैव बोलते हैं, फुसफुसाते हैं। खासी सोच में सिर्फ ईश्वर की महानता ही सब कुछ सृजन करने में समर्थ है। खासी का ईश्वर सत्यवान है और वह इस सत्य का आभास खासी को देता रहता है। ईश्वरीय शक्ति से खासी देखता है कि अण्डे को पत्थर पर पटकने से भी वह नहीं फूटता। गर्म लाल सलाखें शीतल बन जाती हैं। यही ईश्वरीय सत्य और शक्ति उसे अपने पीछे चलाती है। यही वह ईश्वरीय शक्ति है जिससे खासी युगों से नतमस्तक होते आए हैं। जब खासी ईश्वर की इच्छा को जानना चाहता हो जब वह ईश्वरीय वाणी सुनना चाहता हो तब वहाँ अंडा, मुर्गी, चावल या कुछ ओर लेकर उसमें चिह्न देखता है, प्रार्थना और ध्यान करता है और अपने उस विशेष काम में ईश्वर की इच्छा व वाणी को पा लेता है जान लेता है।<sup>17</sup>

“खासियों का धर्म Ka niam Khasi (का नियम खासी) या वह धर्म जो मनुष्य को जाने, ईश्वर को जाने (का नियम तिप ब्रिउ, तिप ब्लेई)ने हमारे मनुष्य होने के कारण हमारा सारी मानवता के प्रति दायित्व बोध और ईश्वर, जो सृष्टिकर्ता है जिसने हमें मनुष्य जीवन दिया, उसके प्रति आस्था और श्रद्धा भक्ति दी है। खासी धर्म का मूल ईश्वर है; ईश्वर जो सृष्टिकर्ता है और उसके सृष्टि स्वरूप हम यहाँ आए हैं यही खासी धर्म का मूल विचार है।”<sup>18</sup>

“खासी धर्म (ka niam) के साथ ‘रुकोम’ (Rukom) को जोड़ता है और वह होता है ‘का नियम का रुकोम’। ‘रुकोम’ इंगित करता है धार्मिक क्रिया कलापों को

वा धर्म के बाहरी रूप को इसलिए ‘रुकोम’ क्षेत्र विशेष में विविधता लिए हुए हो सकता है, जबकि धर्म एक समान रहता है। ‘रुकोम’ हर परिवार में अलग-अलग हो सकता है, पर यह धर्म की एकरूपता पर कोई आँच आने नहीं देता।”<sup>19</sup>

जिस तरह हिन्दू धर्म एक ओर एकेश्वरवादी है तो दूसरी ओर बहु-ईश्वरवादी है उसी तरह खासी सृष्टिकर्तानडवुह-नडथाओंकी स्थिति है। साथ-ही-साथ “खासी ईश्वर को बहुत सारे नाम देता है पर वे सब नाम अलग-अलग कामों के लिए होते हैं। ईश्वर की विविधता और विविध शक्ति पुंज होने पर भी मनुष्य ईश्वर के साथ है। ईश्वर के विभिन्न नाम जैसे सृष्टिकर्ता, बनानेवाला और मनुष्यों को रचनेवाला, रखवाला ये सब इंगित करते हैं कि पृथ्वी और मनुष्य को बनाने वाला वही है। और एक नाम ईश्वर का है Nong Synshar Bad ka nongkukum शासन करने वाला और आज्ञा देने वाला।<sup>20</sup>

खासी आस्था भारतीय विश्वास की तरह ही विविधता लिए हुए है। प्रकृति पूजा, कुल पूजा, सृष्टि कर्ता के अतिरिक्त और भी देव देवियों में खासियों की आस्था हम देखते हैं। नरतियाड क्षेत्र में लेइ दुर्गा, वार क्षेत्र में लेइ लुखी (लक्ष्मी) और लेइ सोणडी (काली) को छोड़कर भी अन्य क्षेत्रीय देवों की आराधना यहाँ की जाती है जिसमें शल्लोड देव प्रमुख हैं। क्षेत्रीय देवता होते हुए भी शल्लोड देव की आराधना सभी खासी क्षेत्रों में की जाती है। शल्लोड देव के बारे में कहा जाता है कि वे वज्र पुत्र थे। वज्र पुत्र की कल्पना भारतीय आस्था से समानता दिखाती है। शल्लोड देव के बारे में एक लोक कथा प्रचलित है। यह कथा एक सुन्दर युवती की है जिसका नाम था लीर। लीर सुन्दर होने के साथ-साथ अत्यन्त उच्छ्रंखल थी। वह मल्लीम के पास बीस गाँव में रहती थी। वह दिन भर पहाड़ों पर तथा नदियों में घूमती रहती थी और उसे उमयू नदी के बीच एक चपटे पत्थर पर सोना बहुत अच्छा लगता था। एक दिन जब लीर उसी चपटे पत्थर पर सो रही थी तब अचानक आकाश गरजा, साथ-साथ तूफान आया और पत्थर के किनारे के एक पेड़ की एक टहनी टूटकर उसके गुप्तांग में घुस गई। तब वह चौंकी और अर्धचेतनावस्था में पत्थर के ऊपर पड़ी रही और बाद में घर चली आई। उस दिन से उसे अपने में एक परिवर्तन का आभास हुआ, वह गर्भवती हो गई थी। दिन बीतने के साथ-साथ गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे तो घर में पूछ-ताछ होने लगी। उसे पूछा जाने लगा कि किसका गर्भ है? पर बेचारी को क्या पता? वह मौन ही रही। बाद में उसे डराया-धमकाया जाने लगा और कुलक्षणी को जान से मार डालने की धमकी भी दी जाने लगी।

एक दिन, लीर के विषय में चर्चा के लिए सभी सगोत्री और सम्बन्धियों की सभा बुलाई गई। लीर, जिसने जाति को बदनाम किया था, रात में ही वहाँ से भाग गई और रडी शल्लोड में पहुँच गई। वह खर-पतवार की छोटी-सी झोंपड़ी बनाकर वहाँ अकेले ही रहने लगी और जंगली फल-फूल और कन्दमूल से अपना जीवन निर्वाह

करने लगी। गर्भवती और अकेली, अनेकों कष्ट झेलते हुए उसने एक पुत्र को जन्म दिया, पर वह मरा हुआ था। उसने उसे वहीं दफना दिया और उसके ऊपर लौकी और कद्दू के बीज बो दिए।

कुछ समय बाद एक रात को जब लीर सो रही थी, अचानक उसने डरावनी आवाज सुनी। उसने सुना कि कई लोग जंगल काट रहे हैं और जमीन खोद रहे हैं। वह डरते-डरते बाहर आई तो देखा कि एक सुन्दर नौजवान एक पत्थर पर खड़ा होकर आदमियों को आदेश दे रहा था, जो जंगल की सफाई कर रहे थे। वह डर के मारे काँपने लगी और उस युवा की ओर बढ़ी। उसने कहा—“मालिक, आप क्यों इस अभागिन के बगीचे छीन रहे हैं? वह युवा उसकी ओर मुड़ा और कहने लगा—“हाँ तुमने मुझे नहीं पहचाना क्या? मैं तुम्हारा बेटा हूँ। मेरे पिता वज्र हैं। तुमने जिसे जन्म देते ही दफना दिया था मैं वही हूँ। मैं अभी चार वायु के बीच में रहता हूँ। मैं अपने इन सेवकों द्वारा तुम्हारे इस बागीचे को साफ करवा रहा हूँ, खुदवा रहा हूँ कि तुम आराम से खेती कर जी सको। कुछ देर बाद वह फिर बोला—“हाँ, जाओ और हमारे मामाओं, पिताओं, भाई-बहनों, सगोत्री सजातियों, बन्धु-बान्धवों सभी को यहाँ बुलाओ। मैं उन्हें बताऊँगा कि पूजा अर्चना कैसे की जाती है। मैं उन्हें प्रार्थना विधि बताऊँगा जिसे सुनकर मैं उनके पास आ सकूँ और उनके दुःख तकलीफ को दूर कर सकूँ। लीर आनन्दित हुई और सुबह होते ही वहाँ से अपने प्राचीन गाँव के लिए चल पड़ी। उसने सभी लोगों को यह वृत्तान्त सुनाया और गाँव के सभी लोग वहाँ से निकले उस अद्भुत देव से मिलने के लिए, और सभी र्छा पहुँचे।

सभी ने पाया कि वह तेजस्वी युवक। उनकी प्रतिक्षा कर रहा है उसने उन्हें अपनी देवत्व शक्ति के बारे में बताया। उसने कहा कि पुकारने से वह उनकी सभी विपदाएँ दूर करने के लिए पहुँचेगा। उसने उन्हें पूजा अर्चना की विधि सिखाई, प्रार्थना उपासना की विधि बताई। सभी ने उसका जय-जयकार किया पर सभी एक प्रश्न आपस में करने लगे, “यह देव कौन है? एक अर्धे व्यक्ति ने कहा U blei uba shullong, देव जो खुद हुआ। तब सभी ने उसका नामाकरण U lei Shulong कर दिया जो U Lei Shyllong शल्लोड देव बन गया।

उस काल से आज तक खासी लोग शल्लोड देव की पूजा अर्चना अपने कुल देवता के साथ-साथ करते आए हैं। आज भी खासी आस्था शल्लोड देव के ऊपर है। जब भी कोई महामारी, दुर्घटना की आशंका होती है तब शल्लोड देव की आराधना की जाती है। कहा जाता है कि द्वितीय महायुद्ध में जापानी सेना खासी पहाड़ पर बम बरसाने की योजना बनाकर आई थी, पर जनता की प्रार्थना से शल्लोड देव की कृपा हुई और आँधी और मूसलाधार बरसात से जापानी फौज को अपने विमान वापस मोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।<sup>21</sup>

खासियों में विद्यमान धार्मिक मेले में एक है ‘कियु लूम सोपेत ब्नेड’। इस सोपेत ब्नेड’ (सोपेत = नाभी + ब्नेड = स्वर्ग) का अनुवाद करने पर इसका नाम स्वर्ग नाभि टीला (पर्वत) या स्वर्गीय नाभि टीला होता है। यह खासियों की प्राचीन गाथाओं से जुड़ा है और इस टीले को खासियों का उद्गम स्थान माना जाता है। इसके बारे में एक कथा प्रचलित है जिसके अनुसार पहले खासियों की 16 झोंपड़ियाँ थीं और इस टीले पर एक सीढ़ी थी जो स्वर्ग तक जाती थी। वे सोलह झोंपड़ी वाले जब चाहे उस सीढ़ी से स्वर्ग चले जाते थे और जब चाहे यहाँ चले आते थे। स्वर्ग में वे ईश्वर के साथ बातें करते थे, दुःख-सुख की बातें करते थे, जैसे स्वर्ग और पृथ्वी में एक ही परिवार के लोग रहते हैं। खासी उस काल को Sotti Juk, सत्य युग कहते हैं।

एक अन्तराल के बाद ईश्वर ने कहा : सत्य छिप रहा है, असत्य बढ़ रहा है। अब पृथ्वी पर सत्ययुग का अवसान होगा।

अचानक एक दिन स्वर्ग जाने वाली वह सीढ़ी टूट गई। सोलह झोंपड़ी वालों में से उस दिन सिर्फ सात झोंपड़ी वाले ही पृथ्वी पर थे, बाकी नौ स्वर्ग में ही रह गए। इसलिए खासी खुद को हिन्दूत्रैप (सात झोंपड़ी वाले) कहना पसन्द करते हैं।

इस प्राचीन इतिहास की धार्मिक व्याख्या करते हुए मावरी कहते हैं—“खासी धर्म की सोहपेत ब्नेड की कथा स्पष्ट संकेत देती है कि मनुष्य ईश्वर के घर से ही यहाँ आया है और वह ईश्वर की अनूठी रचना है; वह है जिसे ईश्वर ने भेजा है। वह है जो ‘ऊपर से गिरकर आया है’ और यही खासी धर्म का मूल है। यह एक वास्तववादी (Realistic) धारणा है। वह इस पृथ्वी में सपने की तरह नहीं आया वरन जैसा वह था। यहाँ वह पुरुषार्थ करने और सात्विक कमाई करने आया है। उसे सात्विक रूप से मेहनत करनी है यहाँ। और ईश्वर भी उसके साथ बातें करता है, उसे देखता है। एक समय था जब सत्य युग में ईश्वर और मनुष्य के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध था।<sup>22</sup>

खासी आस्था के अनुसार लूम सोपेत ब्नेड एक सुनहरा युग था वह सत्य युग था। खासी आस्था में अंधेरा युग का भी वर्णन पाया जाता है। एक कथा है ‘क्रेम लामेट क्रेम लाटाड’ (लामेट और लाटाड सुरड)। उसके बारे में कहा जाता है कि सृष्टि की विभिन्न सर्जना, जैसे पशु, पक्षी, सभी प्राचीन काल में मनुष्य की सत्ता को मानते थे। मनुष्य सभी का शासक और मालिक था। एक बार मनुष्य ने सृष्टि के सभी सर्जनाओं को सूचित किया कि एक दिन एक मेला लगेगा, नाच गान होगा अतः इस मेले में सभी को आना होगा। समयानुसार सभी पहुँचे। जब सभी का नाच खतम हुआ तब सूर्य और चन्द्र पहुँचे। क्योंकि वे देर से पहुँचे थे तब वे दोनों नाचने लगे और कुछ लूले लंगड़े उन्हें चिढ़ाकर उन दोनों भाई बहनों पर हँसने लगे। लंगूर भी उन्हें चिढ़ाकर हँसने लगे। सूर्य चन्द्र जो इतनी मेहनत से सृष्टि को सेवा करते थे

शर्म से लाल हुए। चिढ़ाए जाने के क्षोभ से वे उस मेले से निकल भागे और लामेट लातांग सुरड में जाकर छुप गए। फिर ऐसा अन्धकार कभी नहीं हुआ था। पृथ्वी में हाहाकार मच गया। सब रोने बिलखने लगे और सूर्य चन्द्र को वापस आने के लिए कहने लगे।

कुछ काल बाद फिर बैठक हुई। मनुष्य ने पूछा : लामेट लाताङ में कौन जाएगा सूर्य-चन्द्र को लाने? सूर्य-चन्द्र को मनाकर लाने के लिए कौन जाए इसपर चर्चा होने लगी। हाथी ने कहा मैं तो बहुत बड़ा हूँ, अतः उस सुरङ्ग में अटूंगा ही नहीं। उसी तरह अन्य सभी पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी असमर्थता बताने लगे। अन्त में मनुष्य ने मुर्गे को बुलाया, उसे सजाया, उसके मुलायम पंख और सिर के शिखा से उसे सँवारा और कहाहे मुर्गा तुम्ही समर्थ हो सूर्य को वापस लाने में। मुर्गा भी राजी हुआ और चल पड़ा सुरङ्ग की ओर। वह पहुँचा, सुरङ्ग में सूर्य ने उसका स्वागत किया और उसके आने का कारण पूछा। मुर्गे ने सम्पूर्ण सृष्टि की ओर से उन से क्षमा माँगी और कहाहे सूर्य देव! आप चलिए और अब से मैं जब प्रथम तीन बार बांग दूँगा तब आप उदित होंगे। सूर्य ने मुर्गे की इस शर्त को मान लिया और पुनः आकाश में बैठ गए।<sup>23</sup> इस अन्धकार युग को खासी *लामेट लाताङ सुरड युग* कहते हैं।

इसी तरह की एक खासी लोक कथा है जो सत्य और पाप का विश्लेषण करती है, जो पुराणों तथा अन्य भारतीय प्राचीन साहित्य का ही अंग लगती है।

## आस्था के लिए संघर्षरत खासी

भारतीय संस्कृति के एक घटक के रूप में खासी संस्कृति और खासी आस्था हजारों साल से चली आ रही हैविकसित हो रही है। हम खासी युग में पाते हैंसत्य युग, अन्धकार युग, कलि युग और पुनः सत्य युग।

खासी आस्था की शुरुआत होती है कुल पूजा से और कुल देव इनके आराध्य हैं। प्रकृति की उपासना ही उनको एकेश्वरवाद की ओर ले जाती है। साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय देव-देवियों का अस्तित्व भी हम खासी धर्म में देखते हैं। नडक्रेम में उ सीएम के पूजा घर में हर साल पूजा-अर्चना और उत्सव का आयोजन होता है वह पाँच दिन तक चलता है। इस पूजा में विश्वकर्मा की पूजा भी की जाती है। इस उत्सव को बकर बली अनुष्ठान कहा जाता है। इसी अनुष्ठान के दूसरे दिन प्रार्थना की जाती है जो मुर्गे की बली से पहले की जाती है

Ko lei synshar, sngap! /हे शासक देव, सुन।

Ba pynlong maphi, ba buh maphi, /तू ने बनाया, तू ने खा

Ba long ka bom, ba long ka ksing /ढोलक हुआ, नगाड़ा हुआ

Ba long ka ktang, ba long ka muhari /मुरली हुआ, मुहारी हुआ

Ban neh ka ksing ka bom, /रखने के लिए ढोल नगाड़ा

Ban neh ka ktang ka muhari /रखने के लिए मुरली मुहारी

Ha ka nam ka jongphi, /तेरे नाम पर

Ban neh ka pud ka tem /रखने के लिए बाजा गाजा

Ban neh ka ktang ka Muhari /रखने के लिए मुरली मुहारी

Ban neh ki syiem ki patsha/रखने के लिए राजा बादशाहों को

Ban neh ka hima ka sima/ रखने के लिए राज्य को

Map ka duna ka lait/क्षमा करो अपूर्ण और रिक्त

Pynbiang maphi, ban nangkhraw ban nangneh/पूर्ण करो तुम, बनने को महान्, बनने को विशाल,

Ko Bisokorom, ko khadar kamar /हे विश्वकर्मा, हे बाह्र लोहार

Ko Blei synshar/हे शासक देव

Ban biang ka bishar, ban biang ka khadar/होने को स्वस्थ विचार, होने को स्वस्थ सोच

Ioh lait na kadiang, ioh lait na ka mon/छूट न जाए बाईं ओर, छूट न जाए दाईं ओर

Khmi maphi, pynbeit maphi./तुम्ही देखो, तुम्ही सजाओ

Ban neh ka nam ka burom jongphi/रखने को तेरा नाम यश।<sup>24</sup>

ईसाई व्याख्याता हिन्दू धर्म की वास्तविकता से परे हिन्दू धर्म की गलत व्याख्या करते हैं। आजकल उनकी यह व्याख्या हर भारतीय भाषा में हो रही है। एक नेपाली ईसाई लिखता है : “हिन्दू धर्म का इतिहास अनिश्चित है। हिन्दू लेखक हिन्दू धर्म के कथा सम्बन्धी तिथि और ऐतिहासिक महत्त्व की ओर कोई वास्ता नहीं रखते हैं। हिन्दू धर्म का पालन करनेवालों के व्यक्तिगत अनुभव के लेख ही इस धर्म का इतिहास हुआ था और आजतक भी हो रहा है।”<sup>25</sup>

ईसाई व्याख्याता भारतीय संस्कृति और पन्थ की विविधता से तब घबरा जाते हैं, जब वे देखते हैं कि परस्पर अनेकता के होते हुए भी उनमें ऐक्य है। वे बाइबल के ईश्वर की सृष्टि के घेरे में ही रहकर सोचते हैं। इसलिए भारतीय दर्शन हजारों वर्ष पुराने हैं, वे इस सच को पचा नहीं पाते हैं, और ‘मिथक’ कहकर छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं। पर जब एक और क्षेत्र के आदिवासी भी भारतीय ढंग से ही विश्व दर्शन बताने लगते हैं तो वे उन विचारों का जी तोड़ विरोध करते हैं। भारतीय भाषाओं की कुछ पुस्तकें आज ‘मसीही साहित्य संस्था, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हैं एक पुस्तक जिसका नाम है “वैदिक मोक्ष यात्रा का लक्ष्य तारणहारा प्रभु यीशु। खासी धर्म के बारे में Indian Society for Promoting Christian Knowledge (ISPCK) द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक Khasi Cultural Theology जैसी ऐसी पुस्तकें हर भाषा में

मिलेंगी। आज ईसाई लोग यह सोचते और प्रचार करते हैं कि पृथ्वी पर 'वाइवल ही परम सत्य है'। "पर भारतीय दर्शन यात्रा में कोई दार्शनिक एकदम अन्तिम सत्य के निकट नहीं पहुँच पाया है। यहाँ भी अपने दृष्टिकोण से जगत की पहेली को हल करने के प्रयत्न हुए, और इस प्रयास में सत्य के उच्चतर सोपान पर पहुँचने का प्रयत्न होता रहा है।"<sup>26</sup>

खासी समाज में भी भारतीय संस्कृति की तरह सत्य के उच्चतर सोपान में पहुँचने का प्रयत्न होते रहे हैं। "विश्व की संस्कृति और अधिक चमकती अगर विश्व की हर जाति और राष्ट्र अपनी परम्परा और संस्कृति में खड़े हों, उसी धारा में उनका विकास हो। धर्म को और चमकदार बनाने के लिए उस जाति को अपने ग्रन्थों, तथा श्रुतियों द्वारा प्रचलित अपनी लोक कथाओं में आस्था बढ़ानी होगी, इन आस्थावान पौराणिक कथानकों के तह तक जाना होगा और धर्म के मूल तत्त्वों को इन प्राचीन कथाओं में ढूँढ़ना होगा और यह जानने का प्रयत्न करना होगा कि वह उस जाति तथा राष्ट्र के लिए क्या संकेत दे रहा है।"<sup>28</sup>

उत्तर पूर्वांचल में आदिवासी आस्था का अन्त कर पाश्चात्य आस्था को स्थापित करने के षड्यन्त्र को शुरूआत सन् 1822 में खासी पहाड़ से ही आरम्भ हुई थी। यह षड्यन्त्र अंग्रेजों का भारतीयता के विरोध में षड्यन्त्र का ही एक हिस्सा था। "इन लोगों ने भारतीय साहित्य, इतिहास को कम-से-कम प्राचीन बताने हेतु उसमें उपलब्ध तथ्यों को अपने कुतर्कों से काटकर अप्रामाणिक और अवास्तविक बताया। इन लोगों के मन में भारतीय साहित्य का भय कितना था इसका परिचय फ्रेडरिक वाडमेर ने इन शब्दों में दिया है "बाइबिल के रक्षक इतने भयभीत हो गए कि ऐसा लगने लगा है कि संस्कृत का वर्चस्व बाइबिल की मीनार को गिरा देगा।" (दि लूम आफ लैंग्वेज, न्यूयार्क 1914, p. 174.)

इन भयाक्रांत लोगों ने इसके प्रतिकार की व्यवस्था के लिए जर्मनी और इंग्लैण्ड के लेखकों की एक बड़ी फौज तैयार की जिसमें जर्मनी के मैक्समूलर, राथ, बेवर, कुहन, व्हिटने, बल्लर आदि और इंग्लैण्ड के विलियम जौन्स, मोलियर विलियम्स, विल्सन, कीथ, मेकडानल्ड, रेप्सन, जेम्स मिल, मैकाले, स्मिथ आदि प्रमुख थे। इन सबने भारत के साहित्य, इतिहास और संस्कृति को बिगाड़ने का प्रयत्न किया।"<sup>28</sup>

अंग्रेजों के षड्यन्त्र का सिलसिला विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में दिखता है। खासी पहाड़ पर अंग्रेज पादरी आए और यहाँ रोमन लिपि से वर्णमाला तैयार की। छोटे-छोटे स्कूलों का गठन किया और उस शिक्षा के लिए खासियों को हर प्रकार से तैयार किया गया। उनका उद्देश्य सिर्फ ईसाई साहित्य पढ़ाना और धर्मान्तरण कराना था। "बाबू जीवन राय ने एक दिन एक पादरी से अनुरोध किया कि क्षेत्र में एक इन्ट्रेंस स्कूल होता तो अच्छा था, इसपर पादरी ने झिड़कते हुए उन्हें कहा किहम यहाँ तुम लोगों को धर्म पुस्तक सिखाने आए है, तुम्हें ज्ञानी बनाने नहीं।

अंग्रेज पादरी तथा अंग्रेज शासकों द्वारा खासियों के स्वतन्त्र विकास में विभिन्न प्रकार की अड़चनें पैदा की जाती थी। इसकी जानकारी देते हुए एक खासी अध्यापक कहते हैं कि "सन् 1888 से पहले किसी भी गैर-ईसाई साहित्य को प्रकाशित करने पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाया गया था।"<sup>29</sup>

"सन् 1888 के बाद अन्य धार्मिक पन्थों पर लगे प्रतिबन्धों की परवाह न करते हुए सन् 1897 में बाबू जीवन राय ने अपनी किताब *का नीयाम जोड का खासी* (खासियों का धर्म) पुस्तिका प्रकाशित की। इस पुस्तिका की भूमिका में उन्होंने लिखाजानता (खासी) अपने धर्म को ईसाई मिशनरियों के आने के बाद भूल-सी गई है। अगर यही हाल रहा तो यह एक दिन बिना किसी लिखित साहित्य के इसे पूर्ण रूप से भुला दिया जाएगा।

सन् 1900 में उन्होंने दूसरी पुस्तक प्रकाशित की, जिसका शीर्षक है *का किताब शाफाड उवेई उवलेई* (एक ईश्वर के बारे में किताब)। इस पुस्तक में ईश्वर की व्यापकता के बारे में बताते हुए अन्य विश्व धर्मों के बारे में भी बताया गया है।"<sup>30</sup>

जीवन राय ने उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक पुस्तकें भी लिखी हैं, जैसे *का रामायण-1900*; *का किताप चैतन्य* (चैतन्य की पुस्तक) 1900; *बुद्धदेव चरित्र* 1901; *हितोपदेश* भाग 1, 2, 3, 4, 1998-99।<sup>31</sup>

खासी धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित करने की प्रक्रिया में राबोन राय ने 'ईश्वर के शब्द' प्रकाशित किए। एक अंग्रेज Lord Clwyd ने *Ka Kitab Khein Ka Niam Khasi* लिखी जो उनकी मृत्यु के बाद सन् 1911 में ही प्रकाशित हो सकी। इस पुस्तक में खासियों के विभिन्न पूजा अनुष्ठान के साथ-साथ खासी संस्कृति के बारे में वर्णन है। इसमें ईश्वर के प्रति खासी धारणा (भली और बुरी) और इसकी मानव के दैनन्दिन जीवन में प्रभाव को बताया गया है।

इसके बाद के अन्य खासी धार्मिक लेखकों में होरमु रोय लिड्डोह, जो प्रथम खासी अखबार के सम्पादक भी थे और जो सन् 1896 से आरम्भ हुआ था, राधोन सिंह बेरी, राम मोहन राय (सेड खासी के प्रथम सभापति), शिवचरण राय, डॉ. एच. लिड्डोह और आधुनिक धार्मिक लेखकों में एच. ओ. मावरी और हिप्सन राय आदि हैं।<sup>32</sup>

हम पाते हैं कि अंग्रेज पादरी और शासक सन 1822 के बाद खासी पहाड़ में आए। सन् 1829 तक उन्हें ऊ तीरत सिंह के नेतृत्व में चलाए गए स्वतन्त्रता संघर्ष का विरोध झेलना पड़ा। 1890 से आस्था के क्षेत्र में जो जागरण आया है वह आज इक्कीसवीं सदी में भी निरन्तर बढ़ रहा है। आज खासी के पारम्परिक उत्सव मनाए जाते हैं, जैसेसुक मिन्सेएम (शान्ति नृत्य), बेह डीन ख्लाम (महामारी भगाओ), वियु लूम सोपेट ब्नेड (लूम सोपेट ब्नेड चढ़ो)। सन् 1982 में सेड खासी,

सेड राइज तथा अन्य खासी धार्मिक तथा सांस्कृतिक संगठनों के गठजोड़ से एक संगठन बना हैसेड खीह लाड। यह संगठन हर साल एक लम्पुड (मेला) का आयोजन करता है। 2005 के अप्रैल में भी मेला लगा था जिसमें एक खासी दैनिक के अनुसार डेढ़ लाख लोग सम्मिलित हुए थे।<sup>33</sup>

खासियों के मध्य जन आस्था के सशक्तिकरण के प्रयत्न जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रारम्भ हुए, वे प्रतिदिन प्रबल होते जा रहे हैं।

## सन्दर्भ

1. बी बी लिङ्गोह, (Ka Por) का पोर 13-12-1980.
2. डॉ. एच. लिङ्गोह Ka Niam Khasi 2nd ed. 1970, P. VII.
3. श्री एम. एन. बरकाकती, Tribal Folklore of Assam, Cal 1970.
4. Khasi and Khasi Hills, Kynpham Singh, p. XVIII.
5. Sawian, Jingsneng Tymmen अंग्रेजी अनुवाद, p. 7.
6. चिन्तन सृजन, वर्ष 2 अंक 3, खस और पैसाची भाषा, जुलाई 2004, पृ. 61.
7. वही, पृ. 62-63 उद्धृत जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, अनु. डा उदय नारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, लखनऊ, उ. प्र., द्वितीय संस्करण 1975, पृ. 353-354.
8. A Collection of writing about Khasi and Khasi Hills, Kynpham Singh, 1979, P. XIV.
9. U Peitngor (खासी दैनिक), 20-12-1999, पृ. 4.
10. S. C. Roy Dkhar, Ka niam Khasi (खासी धर्म), 3rd edn. Shillong 1966 p. 3.
11. Sri Kynpham Singh, Khasi heritage, Shillong, 1978, p. 2.
12. हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के स्रोत, सुरेश सीनी पृ. 124.
13. Ka pyrkhath U Khasi (खासी चिन्तन) पृ. 12.
14. वही, पृ. 2.
15. Kitab jing phawar—Rabon Singh Berry, p. 13.
16. Ka Mariang ha U Khasi, (खासियों में प्रकृति) pp. 54-57, Divendra Ramsiej MA, M Phil.
17. Ka Pyrkhath U Khasi (खासी चिन्तन) H Onderson Mawrie, 1973, p. 6.
18. Ka Pyrkhath U Khasi, p. 11, O. Mawrie.
19. वही।
20. वही।
21. Na ki Hamsaya ka mynnor, E. W. Chynne, pp. 2, 3.
22. Theology jong ka niam Khasi, H. O. Mawrie 1991, p. 31.
23. Ka Pomblang ha Nongkrem, H. Lyngdoh, 4th Ed. pp. 15, 16.

24. वही।
25. यी धर्महरूले के सिकाउँछन, डॉ. मंगल मान महर्जन, पृ. 95, एन. सी. एफ. काठमाण्डो, नेपाल, पो व न 4689, 2054.
26. हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत, सुरेश सीनी, 2003, पृ. 78, 79.
27. Theology Jong ka Niam Khasi H. o. Mawrie, p. 11.
28. हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत पृ. 27-28.
28. Ka jingim jong U Babu Jeevon Roy, Kynpham...1970.
29. S. Lamare 'हितकर' के विमोचन सभा में उनके वक्तव्य का एक अंश, अप्रकाशित
30. Khasi Hills & Khasis, Kynpham Singh, p. XXVI.
31. Kynpham Singh, p. XXV.
32. U. Mawphor, 18 April 2005.

*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080  
☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*  
1/3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi-110002

## इस्लामी आतंकवाद : एक दृष्टि

प्रणव कुमार\*

भारत के अतिरिक्त जर्बेकिस्तान, थाइलैण्ड, इस्राइल, इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, रूस, चीन, म्यानमार, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कतिपय अफ्रीकी राष्ट्र इस्लामी आतंकवाद से संघर्ष कर रहे हैं। हाँ, 9/11 की दुस्साहसिक घटना के पश्चात् अन्य राष्ट्रों ने भारत की समस्या के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है। पूर्व में मानवाधिकार के नाम पर आतंकवादियों को प्रश्रय देने की नीति पर पाश्चात्य राष्ट्र अग्रसर थे जिसमें बदलाव आया है। परन्तु इस तथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती है कि हमें यह संघर्ष स्वयं करना है, और अन्ततः विजय प्राप्त करनी है। शत्रु-बोध का अभाव वैचारिक धुंध हमें असफलता ही उपलब्ध करा सकती है, विजय नहीं।

इस्लामी आतंकवाद की भयावहता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् 2000 ई. तक केवल जम्मू-कश्मीर में चल रहे छद्म-युद्ध में हजारों लोग जा चुके थे। इन आतंकवादियों ने सन् 1990 से 1999 ई. के मध्य 34,000 कश्मीरी पण्डितों की हत्या की। 3,50,000 पुरुष और स्त्री, वृद्ध और बच्चे घाटी से पलायन कर विभिन्न कैम्पों में विस्थापितों की जिन्दगी जीने के लिए विवश हैं।<sup>1</sup> परन्तु भारतीय मीडिया और वामपंथी बुद्धिजीवी स्मृतिभ्रंश के शिकार हैं।

मराठा कैम्प की घटनाएँ अंग्रेजों को ज्ञात थीं। परन्तु मराठे अंग्रेजों के कार्यकलाप से सर्वथा अनभिज्ञ थे। क्या आश्चर्य कि अन्ततः मराठे पराजित हुए। क्या हम कश्मीर-केन्द्रित इन आतंकवादी संगठनों से परिचित हैं? एक विहंगम दृष्टि<sup>2</sup> के लिए कृपया परिशिष्ट देखें

सभी प्राप्त तथ्यों से आतंकवादी गतिनिधियों में पाकिस्तानी संलिप्तता स्पष्ट हो जाती है, कश्मीर के कुछ लोगों की राष्ट्र के विखण्डन में तत्परता भी। सन् 1987 ई. से सतत जारी इस परोक्ष युद्ध में “कश्मीर में आई.एस.आई. आतंकवादियों को कितना अधिक हथियार उपलब्ध करा रहा है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वहाँ करीब 19,000 ए.के. राइफल, 31,000 ग्रेनेड, 19,000 कि.

\* प्रशिक्षण से यान्त्रिक अभियन्ता लेखक भारतीय इतिहास के अध्येता तथा एक विद्यालय के निदेशक हैं।

ग्रा. विस्फोटक पदार्थ और लगभग 31 लाख राउण्ड गोली भारतीय सुरक्षाबलों ने आतंकवादियों से अब तक बरामद किया है।<sup>3</sup>

ऐसा नहीं है कि इस्लामी आतंकवाद कश्मीर तक सीमित है। स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इण्डिया (SIMI) उत्तर भारत और दक्कन में क्रियाशील है। कई विस्फोटों में इसके कार्यकर्ता लिप्त रहे हैं। अफगानिस्तान के तालिबान, जिन्होंने भगवान बुद्ध की प्रतिमाएँ खण्डित करने का जघन्य अपराध किया था, देवबन्दी विचारधारा से ही अभिप्रेरित हैं।

पूर्वोत्तर-भारत पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि बांग्लादेश भारत-विरोधी इस्लामी गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा है। बांग्लादेशी अवैध घुसपैठिये पूर्वोत्तर भारत ही नहीं, प. बंगाल तथा बिहार के कई जनपदों में भी जनसांख्यिकीय परिवर्तन करा चुके हैं। इस क्षेत्र में भी कई आतंकवादी संगठन कार्यरत हैं<sup>4</sup>, यथा

- इस्लामिक रिवोल्यूशनेरि आर्मी (IRA)
- मुस्लिम यूनाइटेड लिबरेशन टाइगर्स ऑफ असम (MULTA)
- मुस्लिम लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (MLFA)
- मुस्लिम सेक्यूरिटी फोर्स (MSF)
- युनाइटेड मुस्लिम लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (UMLFA)
- मुस्लिम युनाइटेड लिबरेशन आर्मी (MULA)
- हरकत-उल-मुजाहिदीन (HUM)
- पीपुल्स युनाइटेड लिबरेशन फोर्स (PULF)

दक्षिण भारत में हैदराबाद भारत विरोधी गतिविधियों के इस्लामी केन्द्र के रूप में उभर रहा है। प्रतिवर्ष 2000-3000 पाकिस्तानी हैदराबाद आते हैं। उनमें से लगभग 50% गायब हो जाते हैं, गलत पता-ठिकाना लिखाकर! हिन्दुओं तथा ईसाइयों में मतभेद बढ़े इसके लिए दीनदार अंजुमन नामक एक इस्लामी संगठन ने चर्चों में विस्फोट कराया, चर्च-विरोधी साहित्य प्रकाशित किया। कुछ इस प्रकार कि ये कृत्य हिन्दू-संगठनों के द्वारा किए गए हैं, ऐसा प्रतीत हो। दीनदार अंजुमन ने डॉ. अम्बेदकर की प्रतिमाओं को भी अपमानित किया ताकि तथाकथित दलितों तथा तथाकथित उच्च वर्णों में विद्वेष फैले! उधर, इस्लामी आतंकवादी गतिविधियों के कारण केरल के कतिपय जनपदों में हिन्दुओं की स्थिति उत्तरोत्तर दयनीय होती जा रही है। तमिलनाडु भी इस्लामी आतंकवाद से अछूता नहीं है। 1995 ई. में मद्रास-स्थित हिन्दू मन्मानी कार्यालय में विस्फोट हुआ। सन् 1997 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मद्रास-स्थित कार्यालय में विस्फोट हुआ। फरवरी, 1998 ई. में कोयम्बतूर में 18 शक्तिशाली विस्फोट हुए। इन सभी कृत्यों में सन् 1992 ई. में स्थापित अल्-उम्मा नामक कट्टर पंथी इस्लामी संगठन का हाथ है। एस.ए. बाशा द्वारा गठित अल्-उम्मा के अतिरिक्त मुस्लिम मुन्नेत्र कजगम, आल इण्डिया जेहाद

कमिटी, तमिल इस्लामिक पेरावई तथा सुन्नत अल्-जमात यूथफ्रंट प्रभृत कट्टरपंथी इस्लामी संगठन तमिलनाडु में कार्यरत हैं।

“गुजरात के कच्छ जिला में पाकिस्तानी आतंकवादी मौलाना मसूद अजहर के भारत विरोधी भाषण का ऑडियो कैसेट धड़ल्ले से मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में सुनाए जा रहे हैं।...सन्देह किया जा रहा है कि इन कैसेटों का उपयोग मदरसों में भी किया जा रहा है, जहाँ लड़कों को धार्मिक शिक्षा दी जाती है। वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के अनुसार कच्छ जनपद के सीमावर्ती क्षेत्र में अधिक संख्या में मदरसा खोले गए हैं, ताकि आई.एस.आई. को सीमापार से कार्य करने में कठिनाई न हो सके।<sup>5</sup>” गुजरात के गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस के एक डिब्बे में आग लगाकर 53 काफिरों को, जिनमें स्त्रियाँ तथा बच्चे भी थे, जिन्दा जला दिया गया था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आसेतु हिमालय भारत के सभी प्रदेश इस्लामी आतंकवाद से ग्रस्त हैं। हमारे देवस्थान भी सुरक्षित नहीं (जम्मू का रघुनाथ मन्दिर, काशी का संकटमोचन मन्दिर तथा गुजरात का अक्षरधाम मन्दिर), न ही तीर्थयात्री सुरक्षित हैं। क्या सन् 1947 ई. में स्वतन्त्रता के समय विभाजन स्वीकार कर हमने गलती की थी? इस्लामी आतंक से जड़ीभूत भारतीय-नेतृत्व ने भारत-विभाजन को हिन्दू-मुस्लिम समस्या के एकमुश्त समाधान के रूप में देखा था। सन् 1940 ई. से मुसलमानों के लिए पृथक् राष्ट्र के लिए संघर्षरत मुस्लिम लीग को सन् 1946 ई. में हुए निर्वाचन में अविभाजित भारत के 96% मुसलमानों ने मत दिया था। परन्तु वे पाकिस्तान नहीं गए। हाँ, पाकिस्तान में काफिरों का उच्छेद कर कुफ्र का विनाश उन्होंने कर लिया है। अब भारत को दर-उल-इस्लाम के रूप में परिवर्तित करने का उद्योग चल रहा है। इसके लिए इस्लामी राष्ट्र, विशेषकर पाकिस्तान किसी सीमा तक दुस्साहस कर सकते हैं।

जहाँ तक आण्विक शस्त्रास्त्रों की बात है, जमात-ए-इस्लामी, पाकिस्तान की स्पष्ट घोषणा है कि उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों तक उसकी पहुँच है। जम्मू कश्मीर में विध्वंसक गतिविधियों में संलग्न पाँच तंजीमों (आतंकवादी संगठनों) यथा हरकत-उल-मुजाहिदीन, हरकत-उल-अंसार, हिज्ब-उल-मुजाहिदीन, हरकत-उल-जिहाद-इस्लामी तथा जमात-ए-इस्लामी, कश्मीर से जमात-ए-इस्लामी, पाकिस्तान का सम्बन्ध है। के. सन्थानम, पूर्व निदेशक, इंस्टीट्यूट फॉर डिफेंस स्टडीज एण्ड अनैलिसिस का स्पष्ट मतव्य है कि पाकिस्तान कश्मीर-समस्या के बहाने ‘आण्विक आतंकवाद’ को प्रश्रय दे सकता है।<sup>6</sup>

सभ्यताओं के प्रगति-पथ में पिछड़ गई इस्लामी संस्कृति का ध्वज उठाये मुस्लिम राज्य इस्लाम के विस्तार हेतु प्रत्यक्ष भाग लेने में सम्प्रति अक्षम हैं। अब इन इस्लामी राज्यों से प्रभूत-मात्रा में राजनीतिक, वैचारिक, आर्थिक, सैनिक तथा आधारभूत संरचना से सम्बन्धित समर्थन प्राप्त ‘नान-स्टेट एक्टर्स’ घोषित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सन्नद्ध

हैं। साधन बदल गए हैं, साध्य नहीं। इसी परिप्रेक्ष्य में जेद्दा में आयोजित आर्गेनाइजेशन ऑफ इस्लामिक कंट्रीस (ओ.आई.सी.) के सम्मेलन में महासचिव डॉ. अकमल-उद-दीन एहसान ओग्लो की 8 मई, 2006 की घोषणा उद्धृत की जा सकती है

“भारत कश्मीर में मुसलमानों के खिलाफ जब तक अपना रवैया जारी रखेगा और कश्मीर-समस्या के समाधान में विलम्ब करता रहेगा, तब तक ओ.आई.सी. का कोई भी सदस्य देश भारत से सकारात्मक सम्बन्ध नहीं रखने के लिए वचनबद्ध है...।” इसी परिप्रेक्ष्य में हमारा, हिज्बुल्ला तथा अल्कायदा प्रभूत आतंकवादी संगठनों को मिल रहे प्रभूत राजकीय सहयोग को देखा जा सकता है। ईरान हिज्बुल्ला का समर्थक है तो अरब राष्ट्र हमारा सहयोग देते हैं। सूडान तथा पाकिस्तान अल्कायदा के समर्थक हैं।

ऐसा नहीं है कि अन्य धर्मावलम्बियों ने इस्लाम की चुनौती को अनदेखा किया है। मध्यकाल में, जिसके विषय में विल ड्यूरेण्ट नामक अमेरिकी इतिहासकार-चिंतक ने लिखा है कि भारत में इस्लाम की विजय सम्भवतः मानव इतिहास का सर्वाधिक रक्तंजित अध्याय है, कबीर, तुलसी, नानक, रैदास, सूर, शंकरदेव, समर्थगुरु रामदास प्रभूत भक्त-प्रवरों ने सांस्कृतिक प्रतिकार के लिए बृहद् स्तर पर कार्य किया। राजनीतिक क्षेत्र में पराभूत देश की अस्मिता की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए इस प्रतिकार-आन्दोलन ने अन्ततः सफलता प्राप्त की। हाँ, समर्थगुरु ने इस महाभियान के राजनीतिक आयामों की भी अनदेखी नहीं की। आधुनिक युग में श्री अरविंद, महात्मा गाँधी, विनोबा प्रभूत महामनाओं के अतिरिक्त पाण्डुरंग शास्त्री आठवले, अज्ञेय, अरुण शौरी, डॉ. हर्ष नारायण, यशदेव शल्य इत्यादि विचारकों ने भी इस प्रश्न पर यथोचित ध्यान दिया है।

यशदेव शल्य दार्शनिक हैं, इतिहास में उनकी गति नहीं। हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य के प्रति सम्यक् दृष्टि वे विकसित नहीं कर सके। वे लिखते हैं कि “एक हिन्दू को अत्याचार के विरुद्ध कैसे खड़ा होना चाहिए इसका उत्कृष्टतम उदाहरण गुरु गोविन्द सिंह और महात्मा गाँधी प्रस्तुत करते हैं, जिनके ठीक विपरीत ये तोगड़िये और सिंघल हैं, जो कल्पित अत्याचार को भुना रहे हैं।” परन्तु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि दशमेश गुरु गोविन्द सिंह गाँधी-प्रभूत अहिंसक नीति के पक्षधर नहीं थे और न ही मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं की प्रताड़ना कल्पना-प्रसूत है। ‘कृष्ण अवतार’, ‘राम अवतार’, ‘चण्डी दी वार’ प्रभूत वीर-रस से ओत-प्रोत पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त ‘रामायण’ तथा ‘महाभारत’ का पंजाबी में अनुवाद करने वाले दशमेश ने मुगलों के क्रूर शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह को धर्म सम्मत बताया था

*चुन कर अज-हमाह हिलाते दर गुजस्त  
हलाल अस्त ओ बरदान बा शमशीर दस्त।*

अर्थात्, अन्य विकल्पों की अनुपस्थिति में, शस्त्र-धारण करना न्याय-संगत है। ‘जफरनामा’ नामक दशमेश की फारसी रचना युद्ध और शांति के विषय में कृष्ण की सम्यक् दृष्टि से तादात्म्य रखती है। गाँधी की भांति कृष्ण और दशमेश की विचार-सरणि एकान्गी नहीं। सम्यक् है। ‘गीता’ में कृष्ण सात्विक जीवन को आदर्श बताते हैं, सात्विक जीवन के एक अंग के रूप में अहिंसा को आवश्यक बताते हैं। परन्तु महाभाग कृष्ण अर्जुन के रूप में मानवमात्र को तीनों गुणों को अतिक्रमित करने का आदेश भी देते हैं : ‘निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन’। जीवन की धारा-युद्ध और शांति के दो तटों के बीच बहती है। पुनश्च खालसा के रूप में सैनिक-सन्तों का सृजन करने वाले दशमेश को गाँधी के साथ रखना कदापि उचित नहीं। हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य विकसित हो, इस आदर्श स्थिति को प्राप्त करने के लिए भारत में प्रायः इस्लाम के नाम पर किए गए अत्याचारों का उल्लेख नहीं किया जाता है। ऐतिहासिक तथ्यों को नकारकर हम क्या झूठे क्षणभंगुर आधार पर हिन्दू-मुसलम एकता का विशाल प्रासाद खड़ा करना चाहते हैं? शल्यजी ने लिखा है कि “अकबर से बहादुरशाह जफर तक की शृंखला में एकमात्र औरंगजेब ही ऐसा था जिसने हिन्दुओं पर हिन्दू होने के नाते भयानक अत्याचार किए, शेष ने ऐसा कुछ नहीं किया<sup>8</sup>” तथ्य यह है कि सन् 1556 ई. में अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व सैकड़ों वर्षों तक अरब, तुर्क तथा मुगल भारत पर क्रूर शासन कर चुके थे। धर्म के आधार पर्याप्त पर पक्षपात, हत्या, रक्तपात विध्वंस हो चुका था। स्वयं ‘महान्’ अकबर ने सन् 1564 ई. में बिना किसी उकसावे के गोंडवाना अथवा गढ़-कटंगा नामक रानी दुर्गावती द्वारा शासित राज्य पर आक्रमण का आदेश दिया। रानी तथा उनका अल्पवय पुत्र वीर नारायण ने युद्ध करते हुए मृत्यु का वरण किया। सन् 1567-68 में हुए चित्तौड़ के युद्ध के विषय में मध्यकालीन इतिहासकार निजामी ने लिखा है कि “शाही सेना को आदेश दिया गया कि सम्पूर्ण राज्य को नष्ट कर दिया जाए। रामपुर भेजे गए सेनानायक आसफ खान ने गढ़ पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सम्पूर्ण प्रदेश को नष्ट कर दिया...हुसैन कुली खान ने उदयपुर के सर्वतः अवस्थित सभी नगरों एवं ग्रामों को नष्ट कर दिया।<sup>9</sup>” चित्तौड़ के किले के विजय की उपरान्त हुए उस अमानुषिक जनसंहार के विषय में जे.एल. मेहता नामक इतिहासकार लिखते हैं कि “अकबर ने किले में जीवित बचे सभी लोगोंवृद्ध तथा जर्जर नागरिकों, बच्चों तथा स्त्रियों प्रभूत सभी सैनिकों को मार डालने का आदेश दिया; और इस प्रकार लगभग 30,000 असैनिकों की नृशंस हत्या की गई।<sup>10</sup>” वामपंथियों ने अकबर की वैवाहिक नीति की प्रशंसा की है; उसने अम्बेर, बीकानेर, जैसलमेर की राजकन्याओं से विवाह किया था। क्या ये वैवाहिक सम्बन्ध परस्पर सम्मान के साथ स्थापित किए गए थे? कदापि नहीं, शस्त्रास्त्रों के बल पर बलात्



किए गए इन वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में विकट तथ्य यह है कि कभी भी बारात कन्या के निवास तक गई ही नहीं।

अम्बर के राजा बिहारी मल की कन्या से उत्पन्न अकबर के पुत्र सलीम ने, जो नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर पादशाह गाजी के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ, पंचम गुरु अर्जुन देव की 30 मई, 1606 ई. को हत्या कर दी। अपनी आत्मकथा, 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' में उस असहिष्णु शासक ने लिखा है कि "बियाह (व्यास) के तट पर अवस्थित गोइंदवाल में सन्तों के कपट-वेष में अर्जुन नामक एक हिन्दू रहता है, जिसने सरल-हृदय के हिन्दुओं तथा कुछ अज्ञानी मुसलमानों को वश में कर रखा है, जो उसकी पवित्रता का बखान करते रहते हैं। वे उसे गुरु कहते हैं...तीन अथवा चार पीढ़ियों से उन्होंने अपनी दुकान चला रखी है। कई बार मेरी इच्छा हुई कि इस मूर्खता को बन्द करूँ, अथवा उसे इस्लाम में धर्मान्तरित कर लूँ।"<sup>11</sup>

जहाँगीर पादशाह गाजी के पुत्र शाहजहाँ के शासनकाल में ओरछा, बुन्देलखण्ड के राजकीय मन्दिर को नष्ट कर मस्जिद बनाई गई। बुन्देलखण्ड के शासक जुजहर सिंह के दो पुत्रों को बलात् इस्लाम में धर्मान्तरित किया गया, जबकि अस्वीकार करने वाले तीसरे पुत्र को मार डाला गया। शाहजहाँ के जीवनी-लेखक बी.पी. सक्सेना ने तो स्वयं शाहजहाँ को मन्दिर नष्ट करने के अपराध का दोषी पाया है।<sup>12</sup> इस्लाम के नाम पर सम्पूर्ण भारत में जघन्य अपराध किए गए भारतीय संस्कृति के विविध तत्त्वों को नष्ट-भ्रष्ट करने का बृहत् अभियान इस्लामी शासनकाल में चला। स्पष्टतः यशदेव शल्य की प्रस्थापनाएँ यथोचित नहीं हैं। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करने में वे सर्वथा असफल हैं।

इस्लामी आतंकवाद की सतही व्याख्या करने वालों ने प्रजातन्त्र को रामबाण के रूप में व्याख्यायित किया है। इस्लामी कट्टरता को प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं की अनुपस्थिति से प्रायः जोड़ा जाता है। जबकि 'विल पाकिस्तान ब्रेक डाउन' (लाहौर, 1997) में मुनीर अहमद ने निर्वाचित प्रधानमन्त्री नवाज शरीफ के प्रशासन को बम्बई बम-काण्ड के लिए उत्तरदायी ठहराया है जिसमें 12 मार्च, 1993 को कम-से-कम 257 भारतीय मारे गए, 713 আহত हुए तथा करोड़ों रुपये की सम्पत्ति नष्ट हो गई।

थाइलैण्ड (जिसके 3 मुस्लिम बहुल राज्यों में मुसलमान आतंकवादी गतिविधियों में संलग्न हैं.), फ्रांस, इंग्लैण्ड, स्पेन, हॉलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत प्रजातान्त्रिक मूल्यों के पक्षधर हैं। फिर भी यहाँ अकारण मुस्लिम असन्तोष का कुहरा दिनानुदिन गहरा क्यों होता जा रहा है? सनातन धर्मावलम्बी धर्माचार्य मानव-मूल्यों को आदर्श स्वीकार करते हैं। इस्लाम के तालिबों को भी (अध्येता/छात्र) इस्लामी-भ्रातृत्व (Islamic Brotherhood) को अतिक्रमित कर मनुष्यमात्र के मानवाधिकारों का

सम्मान करना चाहिए। यह आज परिलक्षित पर नहीं होता है<sup>13</sup>, न गाँधी के युग में ऐसा था। सन् 1924 ई. में स्वास्थ्य-लाभ कर रहे गाँधी के चरण-युगल मुहम्मद अली तथा शौकत अली के द्वारा चूमे गए थे श्रेष्ठवावश? (डे-टु-डे विद गाँधी, खण्ड-4, पृ. 21)। उसी मुहम्मद अली ने उस 'बूढ़े व्यक्ति' के विषय में कुछ समय बाद कहा था कि "हाँ, मेरे धर्म और मत के अनुसार, मैं एक परस्त्रीगामी और पतित मुसलमान को भी गाँधी से श्रेष्ठ मानता हूँ।"<sup>14</sup> (डॉ. बी.आर. अम्बेदकर, थॉट्स ऑन पाकिस्तान, पृ. 302)। संकेत धर्म के रूप में इस्लाम की ओर है। इस्लामी आतंकवादियों के एकांगिता तथा अतीव संकीर्णता के बीज तालिबों के मौलिक ग्रंथों में उपलब्ध हैं, अन्यत्र नहीं, जैसा कि अरुण शौरी ने अपनी पुस्तक 'द वर्ल्ड ऑफ फतवावा', पृ. 551-625 में रेखांकित किया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग मुहम्मद को अवतार मानने, जैसा कि कुप्पू श्री सुदर्शन विश्वास करते हैं; अथवा 'स्वाध्याय' के प्रणेता आर्य आठवले के मतानुसार श्रीकृष्ण, ईसा और मुहम्मद के गुणविशेषों से युक्त योगेश्वर की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से, सुगम हो सकता है, ऐसी कल्पना व्यर्थ है। इतिहास की समझ आवश्यक है। अन्यथा हम ऐतिहासिक गलतियों को दुहराने के लिए बाध्य होंगे। मध्य एशिया के लोग हिन्दू-बौद्ध परम्पराओं को त्यागने के लिए बाध्य हुए, अफगानिस्तान ने सनातन परम्पराओं को त्याग दिया, पाकिस्तान भी कुफ्र (गैर-इस्लामी परम्पराएँ) त्याग चुका है, कश्मीर<sup>15</sup> घाटी सनातन रिक्थ त्यागने के लिए बाध्य हो चुकी है। अब शेष भारत अतिवादियों के निशाने पर है।

## सन्दर्भ

1. पाञ्चजन्य, शाहिद रहीम, पृ.8, जून 4, 2006।
2. जिहादीस इन जम्मू एण्ड कश्मीर, सेज पब्लिकेशन तथा आइ.डी.एस.ए., नई दिल्ली, 2003 से साभार। लेखक-वृन्दके. संधानम, श्रीधर, सुधीर सक्सेना तथा मनीष।
3. आई.एस.आई. का आतंक, श्री रामनरेश प्र. सिंह, शिवा प्रकाशन, पटना, 2001।
4. कोहिमा टु कश्मीर, आन द टेररिस्ट ट्रेल, श्री प्रकाश सिंह, पद्मश्री, पृ. 172-73। श्री सिंह उत्तरप्रदेश तथा असम के सर्वोच्च पुलिस अधिकारी रहे हैं। वे सीमा सुरक्षा बल, बी.एस.एफ. के भी सर्वोच्च अधिकारी रहे हैं।
5. हिन्दुस्तान टाइम्स, 9 फरवरी, 2000।
6. जिहादीस इन जम्मू एण्ड कश्मीर, 2003, पृष्ठ 17, के. संधानम, पद्म भूषण। सन् 1998 ई. में पोखरण में किए गए परमाणु परीक्षण इन्हीं के निदेशन में हुए।
7. समसामयिक चिन्ताएँ, यशदेव शल्य, पृ. 146।
8. तथैव, पृ. 152।
9. तबकात-ए-अकबरी, पृ. 325-26, हसन निजामी।

10. अँड्वान्स्ट स्टॅडी इन द हिस्ट्री ऑफ मीड्यँवैल इण्डिया, जे.एल. मेहता, पृ. 230।
11. तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृष्ठ 72।
12. हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली, बी.पी. सक्सेना, पृष्ठ 89-90।
13. तालिबान से नाभिनाल बद्ध अलकायदा के बिन लादेन ने सन् 1996 ई. में अमेरिका तथा इस्राइल के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की थी। कश्मीर में जिहादी गतिविधियों में वह 1989 ई. से ही संलग्न है। निजाम-ए-मुस्तफा की स्थापना के लिए वह सन् 1997 ई. में कश्मीर घाटी में आया थाछद्म रूप में। उसके अनुसार रूस और भारत भी 'इस्लाम के शत्रु' हैं।
14. थॉट्स आन पाकिस्तान, डॉ. वी.आर. अम्बेदकर, पृ. 302।
15. सुब्रह्मन्य भारती कश्मीर को 'भारतमाता का राजमुकुट' स्वीकार करते हैं, अमरनाथ की पवित्र गुफा कश्मीर में ही अवस्थित है, जहाँ आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द को आध्यात्मिक अनुभूति हुई। कल्हण की राजतरंगिणी में उद्गार है कि कश्मीर में शायद ही कोई स्थान ऐसा हो जो तीर्थ न हो। सम्राट ललितादित्य ने सूर्य को समर्पित भव्य मन्दिर का निर्माण वहीं लगभग 1400 वर्ष पूर्व कराया था। श्रीनगर नामक ऐतिहासिक नगर का निर्माण स्वयं सम्राट अशोक ने कराया था। यही नहीं, श्रेण्य परम्पराओं के आलोक में आदि शंकर ने केरल से कश्मीर तक की यात्रा की थी।

## परिशिष्ट

जन्मू-कश्मीर में सक्रिय कुछ मुस्लिम आतंकवादी संगठन

### 1. तहरीक-ए-जिहाद (TEJ)

स्थापना	1997
प्रायोजक	पाकिस्तान
मुख्यालय	मुजफ्फराबाद
बल	600 (विदेशी आतंकवादी तथा पाकिस्तानी पूर्व सैनिक)
प्रमुख	अब्दुल रसीद कुरैशी, अमीर-ए-आला, मजीद दर, नाइब अमीर, मो. अल्लाफ वानी, सेनापति।
शस्त्रास्त्र	एके-47, एल.एम.जी., राकेट
गतिविधिस्वतन्त्रता	दिवस, गणतन्त्र दिवस तथा हिन्दू उत्सवों में विध्वंस करना।

### 2. अल बर्क (ABQ)

स्थापना	1990
प्रायोजक	पाकिस्तान
मुख्यालय	श्रीनगर
बल	350

प्रमुखमुहम्मद यूसुफ-शाह, अमीर-ए-आला नजीम-उल-दीन, अफगानी अब्दुल गनी लोन, सम्प्रति मृत।

शस्त्रास्त्र 100 एके रायफल गतिविधिहत्या-रक्तपात के अतिरिक्त हड़ताल आयोजित करना। अब्दुल गनी लोन ने पाकिस्तान के अतिरिक्त इंग्लैण्ड व अमेरिका की यात्राएँ की थीं।

### 3. अल जिहाद

स्थापना	1991
प्रायोजक	पाकिस्तान
मुख्यालय	125 (25 विदेशी आतंकवादी)
बल	श्रीनगर
प्रमुखशबीर	शाह मो. अशरफ गुरु, अमीर-ए-आला, हैदरअली, प्रमुख सेनापति।

### 4. अल मुजाहिद फोर्स

स्थापना	1992
प्रायोजकपाकिस्तान,	पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के पूर्व
प्रधानमन्त्री सरदार	अब्दुल कयूम खान इस संगठन का
संस्थापक है।	
मुख्यालय	मुजफ्फराबाद
बल	125
प्रमुख	जाहिद इकबाल सरदार अतीक खान, सेनापति

### 5. अल उमर मुजाहिदीन (AUM)

स्थापना	1989
प्रायोजक	पाकिस्तान
मुख्यालय	श्रीनगर
बल	700
प्रमुखमुस्ताक	अहमद जरगर, सर्वोच्च सेनापति, लतीफ उल हक, कार्यकारी सेनापति
गतिविधिदिल्ली तथा	पंजाब तक इस संगठन का कार्य-क्षेत्र
विस्तृत। हिन्दुओं के	उत्पीड़न में लिप्त।

### 6. अवामी एक्शन कमेटी (AAC)

स्थापना	1964
प्रायोजक	पाकिस्तान समर्थित तंजीम
मुख्यालय	श्रीनगर

- बल 12,000  
 प्रमुख मीरवाइज उमर फारुख सईद अहमद शाह  
 गतिविधिसन् 1965 में पाकिस्तानी घुसपैठियों को समर्थन;  
 इस तंजीम के अनुयायियों ने ही अलउमर मुजाहिदीन की  
 स्थापना की थी। भारत के विखण्डन के लिए कार्यरत इस  
 संस्था ने विदेशों में भी कश्मीर की स्वतन्त्रता के लिए समर्थन  
 जुटाया है।
7. हरकत-उल-अंसार (HUA)  
 स्थापना 1993  
 प्रायोजक पाकिस्तान, जमात-उल-उलेमा-ए-इस्लाम  
 (पाकिस्तान) तबलीग-उल-इस्लाम (पाकिस्तान)  
 बल 800 (जिसमें 350 विदेशी आतंकवादी)  
 प्रमुखमौलवी अब्दुल राशिद (पाकिस्तान), मौलवी मुहम्मद  
 अमीन, अमीर-ए-आला; मौलाना फजल-उल-रहमान खलीली,  
 पाकिस्तान; फारुक कश्मीरी, नाइब अमीर; मौलाना कलीमुल्ला,  
 बांग्लादेश  
 शस्त्रास्त्र 50 राकेट लांचर, 400 एके 47/56, 50 एल.  
 एम.जी.  
 गतिविधिहिन्दुओं के उत्पीड़न में संलग्न, हिन्दू यात्रियों,  
 तीर्थयात्रियों तथा नेताओं की चुन-चुनकर हत्या। बांग्लादेश,  
 म्यानमार, बोस्निया, चेचन्या, ताजिकिस्तान तथा इंग्लैण्ड में  
 भी कार्यरत। इस आतंकवादी संगठन ने अपना नाम बदल  
 लिया हैहरकत-उल-मुजाहिदीन।
8. हिज्ब-उल-मुजाहिदीन (HUM)  
 स्थापना 1989  
 प्रायोजक पाकिस्तान, जमात-ए-इस्लामी, जम्मू और  
 कश्मीर।  
 मुख्यालय श्रीनगर  
 बल 1400 (पाकिस्तान प्रशिक्षित)/3000  
 प्रमुख सैयद सलाहुद्दीन, सर्वोच्च सेनापति; अब्दुल  
 माजिद दर  
 शस्त्रास्त्र 1550 ए.के रायफल, 50 से अधिक एल.एम.  
 जी., 150 से अधिक मशीन गन, 2000 ग्रेनेड,  
 90 राकेट लांचर।

- गतिविधि अलग-अलग आतंकवादी गतिविधियों में सैकड़ों  
 हिन्दुओं की हत्या।
9. जम्मू और कश्मीर डिमोक्रेटिक पार्टी (JKDFP)  
 स्थापना 1998  
 मुख्यालय श्रीनगर  
 प्रमुख शबीर अहमद शाह, अध्यक्ष; मौलाना मुहम्मद  
 तारिक काजी; मंजूर अहमद  
 गतिविधि शान्तिपूर्ण ढंग से कश्मीर समस्या का समाधान
10. जम्मू और कश्मीर इस्लामिक फ्रंट (JKIF)  
 स्थापना 1995  
 प्रायोजक पाकिस्तान  
 मुख्यालय श्रीनगर  
 प्रमुख बिलाल अहमद बेग, रफीक सहीन, मेहराजुद्दीन  
 भट  
 गतिविधिसैन्य गतिविधियों द्वारा कश्मीर की स्वतन्त्रता के  
 लिए सन्नद्ध इस संगठन ने दिल्ली, राजस्थान, गुजरात,  
 महाराष्ट्र तथा काठमाण्डू में आतंकवादी कुकृत्य किए।
11. जम्मू और कश्मीर जमात-ए-इस्लामी (JKJEL)  
 स्थापना 1942  
 मुख्यालय श्रीनगर  
 प्रायोजक सम्प्रति पाकिस्तान  
 उद्देश्य इस्लामी राज्य (निजाम-ए-मुस्तफा) की स्थापना  
 तथा कश्मीर का पाकिस्तान में विलय  
 प्रमुख गिलानी, अमीर-ए-जिहाद  
 डॉ. मुहम्मद अयुब ठाकुर, प्रतिनिधि, इंग्लैण्ड  
 गुलाम नबी फई, प्रतिनिधि, अमेरिका  
 गतिविधिपाकिस्तान, सऊदी अरब, मिस्र, कुवैत, न्यूजीलैण्ड,  
 बांग्लादेश तथा युगांडा में क्रियाशील। यह संगठन बच्चों तथा  
 युवाओं में इस्लामी कट्टरता उभारने में संलग्न। कई प्रकाशनों  
 का स्वामित्व है। हिज्ब-उल-मुजाहिदीन इस संगठन का  
 आतंकवादी दस्ता है।
12. जैश-ए-मुहम्मद (JEM) [अर्थात् मुहम्मद की सेना]  
 स्थापना 2000 ई.  
 मुख्यालय बहावलपुर, पाकिस्तान

- प्रायोजक पाकिस्तान  
प्रमुखमौलाना मसूद अजहर, मौलाना अब्दुल जब्बार, उमर शेख, मुस्ताक जरगर, मौलाना-सज्जाद उस्मान।  
गतिविधि 13 दिसम्बर, 2001 को भारतीय संसद पर आत्मघाती हमला।
13. लश्कर-ए-तोइबा (LET)  
स्थापना 1980  
बल 500 (कुछ विदेशी आतंकवादियों सहित)  
मुख्यालय मुद्रिके, पाकिस्तान  
प्रायोजक पाकिस्तान  
उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व में इस्लामी ईश्वर, अल्लाह के राज्य की स्थापना  
प्रमुख प्रो. हाफिज मुहम्मद सईद, अमीर; प्रो. मोहम्मद आजम चीमा, डॉ. मंजूर  
गतिविधि 5 जनवरी 1996 को डोडा में 16 हिन्दुओं की हत्या, 25-26 जनवरी, 1997 को 25 कश्मीरी पण्डितों की हत्या, 18 अप्रैल, 1998 को 27 हिन्दुओं की डोडा में हत्या, 19 जून, 1998 को 25 हिन्दुओं की डोडा में हत्या, 20 मार्च, 2000 को 35 सिक्खों की हत्या (अनन्तनाग), 22 दिसम्बर, 2000 को लाल किला, दिल्ली पर हमला। मरकज दावा-उल-इरशाद का यह आतंकवादी दस्ता सऊदी अरब, कुवैत, क्यूबा, अमेरिका, नेपाल, अफगानिस्तान, नाइजीरिया, म्यान्मार में कार्यरत है।
14. मुस्लिम कॉन्फ़ेरेन्स (MC)  
स्थापना 1989  
बल 10,000  
मुख्यालय बारामुला  
प्रायोजक पाकिस्तान  
प्रमुख प्रो. अब्दुल घनी भट्ट, गुलाम नबी सुमजी  
उद्देश्य स्वतन्त्र कश्मीर की स्थापना  
गतिविधि कई आतंकवादी संगठनों से घनिष्ठता
15. जम्मू और कश्मीर लिबरेशन फ्रंट (JKLF)  
स्थापना 1988 (जम्मू-कश्मीर में)  
मुख्यालय श्रीनगर

- प्रायोजक हिंसक मार्ग अपनाकर कश्मीर की स्वतन्त्रता के पक्षधर इस संगठन का प्रायोजक भी पाकिस्तान  
प्रमुख अमानुल्ला खान,  
डॉ. फारुख हैदर,  
सैफुद्दीन  
प्रो. मकबूल-उर-रहमान,  
रियाज अहमद लोन  
रसीद-उल-हसन
- अमानुल्ला खान  
गुट
- अल्लाफ कादरी,  
यासिन मलिक,  
दाउद खान,  
मुहम्मद रफीक दर
- यासिन मलिक  
गुट
- गतिविधि इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका में कार्यालय, पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करता है।  
1989 टिक्का लाल लपलू, भाजपा उपाध्यक्ष की हत्या; डॉ. रुबाइया सईद का अपहरण; प्रेमनाथ भट्ट की हत्या।  
1990 एक और दो हिन्दुओं की क्रमशः श्रीनगर और बड़गाम में यासिन मलिक द्वारा हत्या; ए.के. रैना की हत्या; मकखन लाल टपलू की हत्या।

उपर्युक्त कट्टरपंथी संगठनों के अतिरिक्त दुखतरन-ए-मिल्लत, इखवान-उल-मुसलमीन, पीपुल्स कान्फ़ेरेन्स, महाज-ए-आजादी प्रभृत तंजीम कार्यरत हैं।

## वर्तमान सभ्यता संघर्ष और रामकुमार वर्मा के महाकाव्यों का महा-आशय\*\*

बलदेव वंशी\*

With Best Compliments  
from

**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**  
Administrative Office  
LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,  
New Delhi-110002 \*Phone Off. 3277883, 3711848

यहाँ हम रामकुमार वर्मा के दो महाकाव्यों 'उत्तरायण' तथा 'एकलव्य' के आशयों को रेखांकित करते हुए भारत तथा विश्व संदर्भों में इनकी प्रासंगिकता पर विचार करना चाहेंगे। यही इस महाकवि के दाय का सुफल होगा। वैचारिक परिसरों में आज पहले से भी अधिक तेज, अन्यायी आँधी व्याप्त है। लगभग आपाधापी मची है। दो-दो महाकाव्य लिखकर, अपने युग की विडम्बनाओं को सामने लानेवाला कवि-चिंतक, जो इतिहास की चली आई गलतियों को सुधार कर, जातीय (मानव जातीय) एकता का महाघोष करता है, उसके दाय का मूल्यांकन कर वैचारिक न्याय, बौद्धिक गरिमा का परिचय तक नहीं दिया गया। उसके महा-आशयों को जाँच-परख कर जातीय, राष्ट्रीय एकता के पक्ष में उनके स्वीकार की बात तो दूर रही। यह सचमुच बड़े दुर्भाग्य का विषय है। वर्मा जी ने तत्कालीन अन्य कवियों प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की भाँति, उनसे भी आगे बढ़कर 'नारी अस्मिता' तथा 'दलित स्वाभिमान' के मुद्दों को अपने उक्त महाकाव्यों के माध्यम से इस तरह उठाया कि जिससे समूचे भारतीय समाज में पूर्व में पड़ी गॉठें खुल सकें। एकता, समता की विचारना ही नहीं, ऐसी भावना जगे, ऐसी चेतना व्याप्त हो कि नारी और दलित स्वयं को सम्मानित-गौरवान्वित रूप में समाज का महत हिस्सा मानें।

'उत्तरायण' महाकाव्य में वर्मा जी ने राम-राज्याभिषेक के बाद सीता वनवास के प्रसंग को प्रक्षिप्त माना है, जो बौद्ध मतावलंबी लेखकों द्वारा वैष्णवधर्मावलंबियों को हीन तथा स्वयं की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए जोड़े गए हैं। वैदिक धर्म के महान चरित-नायक राम और उनकी पत्नी सीता को गर्हित करने की चेष्टा की

\* डॉ. बलदेव वंशी, ए-3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

\*\* साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित डॉ. रामकुमार वर्मा जन्म-शत-वार्षिकी परिसंवाद में पठित लेख पर आधारित।

है। महर्षि वाल्मीकि रचित मूल रामायण में सीता-त्याग का प्रसंग नहीं है। इतना ही नहीं महाभारत, हरिवंशपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण और नृसिंहपुराण में भी इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। यह प्रसंग मिथ्या है। क्योंकि जब रामराज्य में दैविक, दैहिक ताप इस जग में नहीं थे, तब सीता के लिए 'कलंक की रेखा' का उल्लेख क्योंकि सम्भव है

जब दैविक दैहिक ताप न थे जग-तल में,  
कैसी कलंक की रेखा शुभ्र अंचल में?  
मिथ्या, मिथ्या, मिथ्या, न सत्य-सम्मत है,  
साध्वी सीता का व्रत अखण्ड अक्षत है।

वर्मा जी मानना है कि प्रचलित वाल्मीकि रामायण के प्रक्षिप्त कांडों में जो कथावस्तु है, उसे तीन भागों में देखा जा सकता है

1. रावण-चरित (सर्ग 1 से 36 तक)
2. सीता-त्याग और शम्बूक-वध (सर्ग 37 से 82 तक)
3. अश्वमेध और सीता का भूमि-प्रवेश (सर्ग 83 से 111 तक)

ये अंश जब जोड़े गए तब ई. पू. की पहली से ईसा की तीसरी शती तक का काल वैदिक और बौद्ध धर्मों में बहुत संघर्ष का काल रहा है। रावण के चरित्र को राम के चरित्र से श्रेष्ठ बनाकर उसके व्यक्तित्व को अधिक उभारा गया है। सीता को त्याग देने का लांछन एवं शूद्र शम्बूक के वध का कलंक भी राम के चरित्र पर मढ़ा गया है। वर्मा जी अनेक तर्क एवं ऐतिहासिक प्रमाणों से उक्त सन्दर्भों को बाद में जोड़े गए सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि सीता परित्याग-प्रसंग में प्रमुख तीन कारण जो कहे जाते हैं, वे तीनों राम की पूर्व कथा से मेल ही नहीं खाते। पहला लोकापवाद कारण है, जो इसलिए व्यर्थ है क्योंकि राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा ले ली थी, फिर उन्हें राजा होकर किसी और की शंका जताए जाने को मानना क्योंकि जरूरी था। रजक की कथा भी वाल्मीकि रामायण में नहीं है। यह बौद्ध कवि गुणादय की 'बृहत्कथा' और सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' में कल्पित की गई है। निषाद को भाई की भाँति गले लगाने वाले राम शूद्र शम्बूक का वध क्योंकि करेंगे? यह राम-चरित्र को कलंकित करने के लिए गढ़ा गया प्रसंग है।

तीसरा प्रसंग सीता द्वारा रावण के चित्र के रेखांकन की कथा को बहुत बाद में कल्पित किया गया है। वर्मा जी मानते हैं कि यह प्रसंग भी बाद में बौद्धों द्वारा जोड़ा गया है। कुल मिलाकर वर्मा जी ढाई हजार वर्षों से रामकथा पर लगे इस कलंक को धोना चाहते हैं। साथ ही वह यह भी आग्रह सहित कहते हैं कि "यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि बौद्ध धर्म से मेरा कोई विरोध नहीं है। उसके प्रति मेरी श्रद्धा है। अनौचित्य तो कुछ लेखकों द्वारा हुआ है और लेखक कुछ भी लिख सकते हैं।" (भूमिका, पृ.

XIV) इस सबकी प्रतिक्रिया स्वरूप आज यदि यह सोच जगती हो कि वाल्मीकि रामायण में जुड़े इस प्रक्षिप्त अंश को विद्वेष से सुधारा जाए, तो यह और भी गलत होगा। इससे भारत तथा समूचे एशिया का भविष्य सुरक्षित नहीं होनेवाला। मानवीयता का अगला चरणसमता, आत्मीयता के उच्च धरातल पर पड़ना चाहिए। 'उत्तरायण' की निर्दोष, निष्कलंक नारी (प्रेरणादायी अन्तःचेतना) की पुनः प्रतिष्ठा ही आशय है महाकवि वर्मा जी का उन्हीं के शब्दों में कहे

"कैसा है विचित्र वक्र चक्रव्यूह भावना का  
पथ उलझाते हुए, पथ सुलझाता है।" (पृ. 40)

वर्तमान की, बाजारवाद की खुली भौतिक विश्व-व्यवस्था जो वस्तुवाद का पर्याय बनकर समूचे विश्व के साथ भारत को भी, इसकी भावमयी सदियों से संचित-संचित धरा को भी, रौंद रही है, वहाँ, वर्मा जी की ये पंक्तियाँ कितनी सटीक लगती हैं

"है वस्तु प्रेम सब झूठ, सत्य है भाव प्रेम,  
जो जीवन है शिवरूप, वही है योग-क्षेम।  
वह योग-क्षेम है राम-प्रेम का रुचिर रूप,  
है शेष शून्यवत, माया का है अंधकूप।" (पृ. 13)

भारत की, पहचान भी, यदि एक शब्द में देनी हो, तो वह शब्द होगा 'भाव'। यहाँ यह बता देना भी असमीचीन न होगा कि शिव के आठ रूपों में रुद्र, उग्र, ईशान, पशुपति, भीम, महादेव, शर्व और भव हैं (महाशिव पुराण)। भव जलरूप है। भाव, विभव, वैभव, अभाव, भवदीय तथा संचारी भाव आदि से संयुक्त होकर भाव ही रस निष्पत्ति का हेतु बनता है। शिवलिंग पर जल-प्रक्षालन का भी यही कारण है और हृदय में भाव-उद्रेक का भी यही आधार है जो भारतीय काव्य के हृदयगत भाव तत्व को, पाश्चात्य काव्य के बुद्धि तत्व से पृथक विशिष्टता देता है। उक्त उद्धरण में 'भाव प्रेम', 'शिव-रूप', 'भावना' आदि पदों का वैशिष्ट्य समझा जा सकता है।

**एकलव्य (महाकाव्य)** निषाद एकलव्य को गुरु द्रोणाचार्य ने धनुर्वेद की शिक्षा देने से इनकार इसलिए किया, क्योंकि वह इस विद्या को मात्र क्षत्रियों को देने के लिए प्रतिश्रुत थे। क्षत्रियों और शूद्रों के मध्य इस विभेद का एकलव्य ने अपनी निष्ठा व साधना के बल पर बेधन कर दिखाया। द्रोणाचार्य को इस विभेद पर बड़ा खेद भी होता है। उनके नेत्रों से अश्रु तक गिरने लगते हैं। श्री वर्मा स्वयं एकलव्य से ही साधना-सिद्धि मांग रहे हैं, वर्तमान के लिए

मानव-विभेद का ही लक्ष्य-बेध यों किया,  
कि विश्व ने तुम्हारी बात मौन हो मान ली।

ऐसी साधना दो मुझे, एकाग्र एकलव्य!  
 एक लव मेरी लेखनी को हो तुम्हारी ही।  
 शब्द-वेध एक बार फिर हो, ऐ कार्मुकी।  
 चक्रित हो साधना से यह सृष्टि सारी ही॥ (पृ. 7)

महाभारत में एकलव्य का प्रसंग, जिस जातिवादी विष के वृत्तान्त को लेकर इतना कुख्यात हुआ, भारत में ही नहीं, किसी-न-किसी रूप में विकसित देशों में भी मनुष्य-मनुष्य में भेद के वैसे ही रूप देखने को मिलते हैं।

भूमि पुत्र होने में एकलव्य अपना सुयोग और सौभाग्य मानता है

“वायु की तरंगों में उठाता शीश अपना,  
 पैर दे के कंटकों के बीच खड़ा होता है।  
 सूर्य की प्रखर अग्नि उसका बिछौना है,  
 झंझा का प्रहार उसे यौवन का व्रत है।” (पृ. 176)

“ऐसी राजधानी का विनाश होगा शीघ्र ही जो महर्षियों को राजनीति से चलाती है”... (177)

जो मानव पुत्रों में भेद करती हैं

“सावधान, भूमिपति! हममें भी शक्ति है,  
 भूमिपुत्र सर्वदा हैं भूमि बल जानते।  
 पशुबल-कौशल तो सीमित तुम्हारा है,  
 आत्म-बल की हमारे पास सीमा है नहीं।” (177)

एकलव्य अपने तपोवन में एक नए आश्रम की प्रतिष्ठा-स्थापना करने का संकल्प लेता है, जहाँ वह अपने गुरु द्रोणाचार्य की भूमि-कणों द्वारा प्रतिमा निर्मित करके उसकी प्रतिदिन पूजा-अर्चा करेगा। उस आश्रम में रहते हुए वह हिंस्र पशुओं के सताए हुए जीवों की सदा सुरक्षा करने की व्यवस्था भी करेगा। इस प्रकार “शिक्षा का प्रयोग इस भाँति होगा नित्य ही।” (181)

छायावादी रहस्यवादी युग में सूक्ष्म अनुभूति जो इन काव्य-प्रवृत्तियों को विशिष्टता और अद्वितीयता से मंडित करती है, वह वस्तुतः अध्यात्म अनुभूति है, जो मनुष्य और मनुष्यता की अस्तित्वगत पहचान कराती है। रामकुमार वर्मा के काव्य में अंतःधमनियों में निबद्ध इसकी ध्वनि सुनी जा सकती हैं। यह वही लय है, जो कबीर काव्य के विशिष्ट सौ पदों का अनुवाद करते हुए रवीन्द्रनाथ की चेतना में अपने आलोक से गीतांजलि को रंग जाती है और विश्व-साहित्य की धरोहर बनकर भारतीय अस्मिता की पहचान कराती है। एकलव्य नागदंत को गुरु द्रोण की पाषाण प्रतिमा के सम्बन्ध में कहता है

“अपने शरों की शित नोक से पाषाण में,  
 खींचता हूँ मूर्ति मैं आचार्य आर्य द्रोण की।  
 ... ..  
 मूर्ति पाषाण पर है नहीं, वह उर में  
 अंकित है, यह चित्र मात्र-प्रतिबिम्ब है,  
 जो कि नेत्र-जल में तो पड़ता है, साथ ही  
 पड़ता पाषाण पर कितना प्रभाव है!  
 उस दिव्य आकृति का कितना प्रभाव है!” (73)

भारतीय अध्यात्म में रहस्य कुछ भी नहीं है। आत्म और परमआत्मा दोनों ही प्रगत हैं। अधि-आत्म भी। इसी संसार में विद्यमान देह और आत्मसंयुक्त हैं। इसलिए गुरु द्रोण की मूर्ति पाषाण पर नहीं, उर में अंकित है। बाहर तो मात्र प्रतिबिम्ब है, अन्तःकरण में वास्तविक है। वही नेत्र-जल में भी तथा पाषाण पर भी प्रतिबिम्बित होती है। समूचा सन्दर्भ आध्यात्मिक जगत को मूर्त करता हुआ बुद्धिवाद जड़वाद के विपरीत हृदय और भाव का पक्ष सामने लाता है।

“उच्चकुल का अभाव, किन्तु उच्च भाव है”(126)

गुरु द्रोण भूमि पुत्रों को नहीं, भूमिपतियों को शिक्षण देने को प्रतिश्रुत थे। वे राजगृह में मणि-दीप सजा रहे थे, मिट्टी के दीयों के लिए उनके पास समय नहीं था। (126) ‘धनुर्वेद’ नाम सुनकर ही एकलव्य धन्य होकर, द्रोणाचार्य को गुरु मान लेता है

“जाति-भेद नहीं, वर्ग-वंश-भेद भी नहीं,  
 शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।” (222)

भारत में जो कार्य स्वतन्त्रता मिलते ही प्रथमतः सम्पन्न होना चाहिए था, वह आज तक किसी भी सरकार ने नहीं किया। लोकतान्त्रिक अधिकारों से, सामाजिक न्याय से, सभी ने जन को जान-बूझकर वंचित नहीं रखा है क्या? समाजवादी, साम्यवादी सरकारें भी यह अपराध आज तक नहीं करती आ रहीं क्या? और जो तथ्य कवि ने प्रश्न रूप में रखे हैं

सूर्य की किरण भी क्या जाति-भेद मानती?  
 अग्नि क्या विशेष जीव-धारियों की श्रेणी में  
 सीमित है? और वायु की तरंग उठती  
 केवल विशिष्ट व्यक्तियों को साँस देने में? (222)

उक्त सारे प्रश्न अभियोग की भाँति लोकतान्त्रिक देश की आज तक की सभी सरकारों पर लागू होते हैं। महाकाव्य में व्यक्त कवि के महा-आशय अपनी व्याप्ति में हमें हमारे यथार्थ के सामने इसी रूप में खड़ा करते हैं।

अभावग्रस्त द्रोणाचार्य एक ओर भीष्म के अनुग्रह के अधीन उनके कृतज्ञ हैं तो दूसरी ओर द्रुपद द्वारा दिए गए अपमान का बदला लेने के लिए अपने सुपुत्र अश्वत्थामा तक को भी जो उनकी विद्या का स्वाभाविक उत्तराधिकारी है, शिक्षा में पार्थ (अर्जुन) से न्यून रखने को बाध्य हैं, क्योंकि पार्थ की शक्ति-सामर्थ्य पर उन्हें अधिक भरोसा है। द्रोण की विडम्बना है, कि वह 'अर्थ-संकट' और 'प्रतिशोध की ज्वाला' इन दो ध्रुवांतों पर धधक रही हैं, किन्तु स्वप्न में एक श्यामल कुमार (एकलव्य) को देखकर हतप्रभ हैं, जो उनके न चाहते हुए भी उनसे सर्वश्रेष्ठ लेने में सफल हो रहा है।

*“और यह सत्य है कि चेतन मनस् से,  
शक्तियाँ अधिक अन्तर्चेतन मनस् की...।” (269/3)  
इस भाँति शिक्षा जो अप्रत्यक्ष-रूपा बनी,  
वह श्रेष्ठ निश्चय है प्रत्यक्ष की शिक्षा से। (269/4)*

भव, भाव, भावना का सूत्र! हृदय-आकाश है। परालोक में विष्णु शेषशायी हैं। गंगा विष्णुपदी हैं, विष्णु के चरण-पाद से निःसृत। यह समूची वैखरी प्रक्रिया घटित होती है भावना में। यही साधना की चरितार्थता है। एकलव्य ने इसे अपनी साधना में चरितार्थ कर दिखाया है, जो पार्थ नहीं कर पाए, गुरु द्रोण के प्रकट शिक्षण में, वह एकलव्य ने अर्जित किया है। कह सकते हैं कि भावना में देश-काल ही नहीं, भाव एवं चित्त की सीमाओं का भी अतिक्रमण सम्भव है।

यहीं यह उल्लेख भी कर देना उचित है कि नई कविता में 'लघु मानव' की उद्भावना करनेवाले विद्वानों ने और प्रगतिवाद के अनुयायियों ने 'एकलव्य' महाकाव्य का उल्लेख करना भी जरूरी नहीं समझा। यों हमारी दृष्टि में 'एकलव्य' को यदि छायावाद में स्थान नहीं दिया जा सकता तो उसकी बाह्यपरकता, सामाजिक न्याय और वर्गचेतना के भेद को दर्शाने के कारण प्रथम, प्रगतिवादी महाकाव्य अवश्य माना जाना चाहिए, भले ही वह मार्क्सवादी अवधारणा को पुष्ट न करता हो और भारतीय जीवन दृष्टि की क्षमाशीलता का अभिवर्द्धन करता हो।

जब संस्कृतियों में युद्ध होता है तो मानव रक्त बहता नहीं, विकृत होता है। सभ्यताओं के टकराव ने आज विश्व को विनाश की जिस कगार पर ला खड़ा किया है, उस टकराव के रूप और लक्षण अफगानिस्तान और इराक के एकतरफा, एकपक्षीय युद्ध में विश्व देख चुका है। भारत में भी अंतरधारा में ये विकृतियाँ बोई जा रही हैं, जो धीरे-धीरे अपना रंग दिखाने भी लगी हैं। अतः वैदिक-बौद्ध को ही नहीं, हिन्दू-मुस्लिम को भी एकात्मभाव, सम्मानभाव से विश्व की इन विनाशक शक्तियों का सामना करना होगा। वर्मा जी के इन महाकाव्यों से जो आशय निकल कर हम तक आते हैं, उन्हें गौर से देखें-जानें। यही आज के लिए उपयोगी होगा।

यही बौद्धिकों-साहित्यिकों का मोर्चा है। इन्हीं सरहदों पर उन्हें सन्नद्ध रहना है। एक ही मूल सांस्कृतिक गर्भ से जन्मे वैदिक-बौद्ध धर्मों में आज वैसी विषमताएँ भी नहीं। आज कोई उतने गम्भीर गहरे विवाद भी नहीं हैं, जो विनाशक, बर्बर शक्तियों के सर्वभक्षी इरादों के सामने भुलाए न जा सकें। भारतीयता के मूल सांस्कृतिक गर्भ से जन्मे सगोत्री, सगे, नाभिनालबद्ध बौद्धधर्म को आत्मीयता की बाँहों में आलिंगनबद्ध करने से श्रीलंका, जावा-सुमात्रा/इंडोनेशिया ही नहीं बर्मा, जापान, चीन भी एक नया सांस्कृतिक वृत्त बनकर सुरक्षा घेरा सिद्ध हो सकते हैं। भारत एवं समूचे विश्व में नारी गरिमा तथा दलित-काले आत्म-सम्मान प्राप्त करें, क्षुद्र सम्प्रदायवाद, रंगभेद, सभ्यता-श्रेष्ठता के विभेद समाप्त हों। इसके साथ ही एकतरफा बर्बर विनाश की, बाजारवादी, लूटखसोट की शक्तियाँ पराजित हों, विश्व-विकास के बाजारवादी वस्तुवादी एक पहिए के साथ दूसरा पहिया आध्यात्मिक विकास का भी जुड़े, तभी संतुलन सम्भव है। इस नीति के साथ ही क्षमाशील मति भी जुड़े तभी अपेक्षित गति सम्भव होगी

*नीति हो तुम्हारी मति और क्षमा यति हो,  
गति हो तुम्हारी एकलव्य के प्रहार सी। (पृ. 189)  
हीनवर्ण उठता है, उच्चवर्ण हीन हो  
काटता है तुम को पराजित हो नीति से। (पृ. 190)*

और अंत में महाकवि रामकुमार वर्मा के शब्दों में मुखर उनका महा-आशय कि युगवाणी

*“जन-जन-मानस को एक-रूप कर दे!”*



## पाठकीय प्रतिक्रिया

---

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून 2006 अंक मिला। मेरी नजर में यह एक शानदार पत्रिका है। इसका हर एक लेख एक से बढ़कर एक है, उपयोगी है। कई प्रकार के कर्मचारी गण इसे पढ़कर लाभ उठाते हैं। प्रिंट, कागज उच्च कोटि का है। पत्रिका संग्रहणीय है। आपकी पत्रिका चिन्तन-सृजन जिस तरह भारतीय सभ्यता संस्कृति तथा संस्कारप्रियता का प्रचार प्रसार करने में प्रयत्नशील है, उसके लिए आप प्रशंसा तथा बधाई के पात्र हैं ... - **रा. स्वामीनाथन, स्वागतम्, हिन्दी टीचिंग सेन्टर, मयिलाडुतुरै, तमिलनाडु।**

‘चिन्तन-सृजन’ का अप्रैल-जून अंक अभी मिला। इसमें काफी heavy weight लेख हैं। यह हिन्दी की चिंतन-प्रधान एकमात्र पत्रिका है। बधाई। - **डॉ. के. एल.व्यास, हैदराबाद।**

यह आपकी गुणग्राही और वैदुष्यप्रवण वृत्ति ही है जो ऐसे शोधपूर्ण रूक्ष लेखको प्रकाशित करती है। पर मेरी भाषा में तत्सम शब्दों की प्रचुरता रहती है अतः प्रूफ सावधानी से देखा जाना चाहिए। इस (अख्यान.....) वाले लेख में प्रूफ की काफी अशुद्धियाँ हैं - जो आशय तक पहुँचने में कठिनाई पैदा करती हैं। ... - **राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन।**

‘चिन्तन-सृजन’ का अंक अप्रैल-जून, 2006 मिला। अब तक सम्पादकीय, श्री यशदेव शल्यका लेख *संचार-माध्यम और नैतिकता* तथा श्री मुकुन्द लाठ का *शल्य जी का काव्य विमर्श* पढ़ सका हूँ। श्री लाठ के निबन्ध में ‘प्रत्यङ्मुख’ शब्द आया है। यह कैसे बना? मैं समझ नहीं पाया। कहीं मुद्रण की त्रुटि तो नहीं है? यदि हो तो कृपया भविष्य के लिए मुद्रक का ध्यान इस ओर दिलाएं! श्री शल्य या लाठ का लेख हो तो उसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ और महत्त्व न हो, ऐसा तो हो नहीं सकता। डॉ. रमेश दवे का लेख ‘समाज औरसाहित्य : सम्बन्धों के राग-विराग’ अभी अभी पढ़ा और लगा कि कोई तो है जो उपलब्ध साहित्य के संदर्भ में ठीक सोचता है। -**डॉ. केशिकान्त, क्यू-25, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला(पंजाब)।**